

ॐ

परमात्मने नमः

श्रावकधर्मप्रकाश

श्री पद्मनन्दि आचार्य रचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्योतन अधिकार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
भावभरे प्रवचन

: लेखक :

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
(सोनगढ़)

: अनुवादक :

श्री सोनचरण जैन ❀ श्री प्रेमचन्द जैन, M.Com
सनावद (मध्यप्रदेश)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. श्री परमागम प्रकाशन समिति
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट
योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रक :

* अर्पण *

*
* सम्यक्त्वधारी सन्त तुम हो
* श्री जिनवर के नन्द;
* श्रावक हे जिनधर्म-उपासक
* जिनशासन के चन्द ।
* मुनि बनोगे निकट काल में
* होगा केवलज्ञान;
* उपदेश देकर दोगे हरि को
* रत्नत्रय का दान ॥
* — ऐसे शुद्ध श्रावकधर्म-उपासक धर्मात्माओं को
* परम बहुमान के साथ यह पुस्तक
* अर्पण करता हूँ ।
* —हरि
*

श्री वीतरागाय नमः

अनुवादकों की ओर से

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित जैन-साहित्य की सर्व-विख्यात एवं अनुपम कृत 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के सातवें अधिकार 'देशव्रत उद्योतन' पर पूज्य आत्मज्ञ सन्त श्री काजीस्वामी द्वारा दिये गये प्रवचनों का संग्रह 'श्रावकधर्मप्रकाश' (गुजराती) देखने का सौभाग्य मिला। इस अनुपम संग्रह का लाभ हिन्दी भाषी मुमुक्षु भाई-बहिनों को प्राप्त हो, इस भावना से इसका अनुवाद हिन्दी में करने का भाव हुआ। श्रावकों को प्रतिदिन के छह कर्तव्यों (षट् आवश्यकों) के परिज्ञान की आवश्यकता है। स्वामीजी के इन सुबोध प्रवचनों से इन कर्तव्यों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। इस ग्रन्थ के अनुवाद-कार्य में हमें सोनगढ़ साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से पूर्ण सहयोग व मार्गदर्शन मिलता रहा जिसके लिए हम आभारी हैं।

अनुवाद में कहीं भी मूल गुजराती पुस्तक के भाव में अन्तर न पड़े इसका पूरा ध्यान रखने का प्रयत्न किया है, तथापि प्रमाद एवं अज्ञानवश जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उन्हें सुहृद पाठक-जन पूर्वापर प्रसंग के आधार पर सही करते हुए हम पर कृपाभाव रखेंगे ऐसी आशा है।

अन्त में पुनः पुनः सत्पुरुष आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का हम उपकार मानते हैं जिनके परम प्रभाव से हमें यह सत्प्रेरणा प्राप्त हुई। इत्यलम्।

सन्तचरण सेवी—

दिनांक १० सितम्बर १९६८

सनावद (मध्यप्रदेश)

—सोनचरण जैन

—प्रेमचन्द जैन, M.Com

नमः श्री वर्द्धमानाय

प्रकाशकीय निवेदन

‘श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका’ के ‘देशव्रतोद्योतन’ अधिकार पर परम पूज्य आत्मज्ञ सन्त श्री कानजीस्वामी ने अत्यन्त भाववाही प्रवचन किये, इसलिए उनका हम हार्दिक अभिवादन करते हैं। उन प्रवचनों का सुन्दर संकलन ब्रह्मचारी हरिभाई ने किया और वे गुजराती में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए; उसका हिन्दी अनुवाद प्रगट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है।

इस प्रस्तुत के अनुवादक श्री सोनचरणजी दिगम्बर जैनसमाज सनावद के एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तथा अध्यात्मरसिक, सरल और गम्भीर महानुभाव हैं। सोनगढ़ साहित्य के प्रति उनकी विशेष रुचि है। सनावद की अनेक संस्थाओं के वे सदस्य हैं और कपड़े के व्यापारी भी हैं।

दूसरे अनुवादक श्री प्रेमचन्दजी जैन, M.Com. हैं, और सनावद के श्री मयाचन्द दिगम्बर जैन उच्चतर विद्यालय में व्याख्याता हैं। वे भी सोनगढ़ साहित्य के प्रति विशेष प्रेम रखते हैं।

उपरोक्त दोनों महानुभावों ने इस हिन्दी अनुवाद को अत्यन्त उल्लासपूर्वक और बिलकुल निस्पृहभाव से तैयार कर दिया है। इसलिए उनको धन्यवाद देने के साथ उपकार मानते हैं।

अनुवाद का संशोधन-कार्य श्री पण्डित मूलचन्दजी शास्त्री सनावद तथा श्री पण्डित बंशीधरजी शास्त्री, M.A. कलकत्तावालों ने कर दिया है। तथा जतीशचन्द्रजी सनावदवालों ने प्रकाशन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से सहायता की है। इसलिए उनका अन्तःकरण पूर्वक आभार मानते हैं।

अजित मुद्रणालय के मालिक प्रवीणचन्द्र शाह ने पुस्तक का मुद्रणकार्य सुन्दर ढंग से कर दिया है। अतः उनका आभार मानते हैं।

इन प्रवचनों में श्रावक के कर्तव्य का जो स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूप से पूज्य गुरुदेव ने दर्शाया है, उसका अनुसरण करने के लिए हम सब निरन्तर प्रयत्नशील रहें.... यही भावना।

वैशाख शुक्ला दोज

वीर सं० २५०७

सोनगढ़

सन्तचरण सेवी—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—: निवेदन :—

‘श्रावक’ अर्थात् मुनि का लघुभ्राता। उसका जीवन भी कैसा पवित्र आदर्शरूप और महान है। वह इन प्रवचनों को पढ़ने पर समझ में आयेगा। इस पुस्तक में श्रावक के धर्मों का सर्वांग सुन्दर वर्णन है। गृहस्थदशा में रहनेवाले श्रावक भी मोक्षमार्ग में गमन करते हैं। ऐसे श्रावक का धर्माचरण कैसा होता है, इसका विस्तृत वर्णन करते हुए प्रथम तो ‘सर्वज्ञ की श्रद्धा’ होना बतलाया है। साथ ही उसकी शुद्धदृष्टि कैसी हो और व्यवहार-आचरण कैसा हो तथा पूजा-भक्ति, दया-दान, साधर्मिप्रेम, स्वाध्याय इत्यादि के परिणाम कैसे हों? इसका भी विस्तृत वर्णन किया है।

निश्चय के साथ सुसंगत व्यवहार का इतना सुन्दर स्पष्ट, भावभरा उपदेश श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जैसे प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य में देखने को नहीं मिलता। इस शैली के प्रवचनों का यह प्रथम प्रकाशक है। गृहस्थ श्रावकों के धर्म कर्तव्य का इसमें विस्तृत उपदेश होने से सबके लिए उपयोगी है। श्रावकधर्म का ऐसा सुन्दर वर्णन भाव से पढ़नेवाले को ऐसी ऊर्मियाँ जागृत होती हैं—मानों स्वयं ही उस धर्म का आचरण कर रहा हो, आहारदान का वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही मुनिवरों को भक्ति से आहार दे रहा हो। जिनप्रतिमा का वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही प्रतिमाजी की स्थापना या पूजन कर रहा हो ऐसे भाव जागृत होते हैं। दान का वर्णन पढ़ने पर तो निर्लोभता से हृदय एकदम प्रसन्न हो उठता है, और देव-गुरु की भक्ति का वर्णन पढ़ते समय तो मानों हम संसार को भूल ही जाते हैं और जीवन देव-गुरुमय बन जाता है। तदुपरान्त साधर्मि के प्रति वात्सल्य इत्यादि का वर्णन भी धार्मिक प्रेम की पुष्टि करता है। सर्वज्ञदेव की पहिचान और प्रतीति तो सम्पूर्ण पुस्तक में प्रारम्भ से अन्त तक व्यक्त की हुई है।

इस श्रावकधर्म के प्रवचनकार पूज्य श्री कानजीस्वामी का मेरे जीवन में अपरम उपकार है। २५ वर्ष से पूज्य गुरुदेव की मंगल-छाया में निरन्तर रहने के सुयोग से और उनकी कृपा से मेरे जीवन में जो महान लाभ हुआ है, इसके उपरान्त पूज्य गुरुदेव के अनेक प्रवचन लिखने का और उनको ग्रन्थारूढ़ करने का सुयोग मुझे मिला है, उसको मैं मेरे जीवन में महद् सद्भाग्य मानता हूँ... और इसी प्रकार सदैव गुरुदेव की मंगल चरणसेवा करता हुआ आत्महित की साधना करूँ और शुद्ध श्रावकधर्म के पालन का मुझे शीघ्र अवसर मिले ऐसी भावना भाता हूँ।

जयजिनेन्द्र

वीर सं० २४९५, आसो सुद १
सोनगढ़

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
❀	प्रवचन का उपोद्घात	१
१	सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म	३
२	धर्म के आराधक सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा	११
३	मोक्ष का बीज सम्यक्त्व, संसार का बीज मिथ्यात्व (सम्यग्दर्शन हेतु परम प्रयत्न का उपदेश)	२१
४	सम्यक्त्वपूर्वक व्रत का उपदेश	३१
५	श्रावक के व्रतों का वर्णन	४३
६	श्रावक के बारह व्रत	४८
७	गृहस्थ को सत्पात्रदान की मुख्यता	५२
८	आहारदान का वर्णन	५९
९	औषधिदान का वर्णन	६६
१०	ज्ञानदान अथवा शास्त्रदान का वर्णन	७०
११	अभयदान का वर्णन	७९
१२	श्रावक को दान का फल	८४
१३	अनेक प्रकार पापों से बचने के गृहस्थ दान करे	८८
१४	गृहस्थपना दान से ही शोभता है	९५
१५	पात्रदान में उपयोग हो वही सच्चा धन है	९९
१६	पुण्यफल को छोड़कर धर्मी जीव मोक्ष को साधता है	१०३
१७	मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे	१०८
१८	जिनेन्द्र-दर्शन का भावपूर्ण उपदेश	११४
१९	धर्मात्मा इस कलियुग के कल्पवृक्ष हैं	१२०
२०	धर्मी-श्रावकों द्वारा धर्म का प्रवर्तन	१२४
२१	जिनेन्द्र-भक्तिवन्त श्रावक धन्य हैं!	१२८
२२	सच्ची जिनभक्ति में वीतरागता का आदर	१३३
२३	श्रावक की धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार	१४२
२४	श्रावक को पुण्य फल प्राप्ति और मोक्ष की साधना	१४७
२५	मोक्षमार्ग में निश्चयसहित का व्यवहारधर्म मान्य है	१५५
२६	मोक्ष की साधनासहित ही अणुव्रतादि की सफलता	१६०
२७	श्रावकधर्म की आराधना का अन्तिम फल-मोक्ष	१६३
❀	स्वतन्त्रता की घोषणा (चार बोलों से स्वतन्त्रता की घोषणा करता हुआ विशेष प्रवचन)	१६६



श्री सर्वज्ञदेव को नमस्कार हो।

श्रावकधर्मप्रकाश

प्रवचन का उपोद्घात

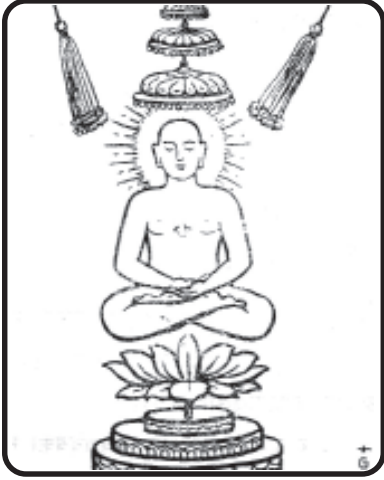


यह पद्मनन्दी पंचविंशतिका नामक शास्त्र का सातवाँ अधिकार चल रहा है। आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले और वन-जंगल में निवास करनेवाले वीतरागी दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मनन्दीस्वामी ने लगभग ९०० वर्ष पहले इस शास्त्र की रचना की थी। इसमें कुल छब्बीस अधिकार हैं, उनमें से सातवाँ 'देशव्रत-उद्योतन' नाम का अधिकार चल रहा है। मुनिदशा की भावना धर्मी को होती है, परन्तु जिसके ऐसी दशा न हो सके, वह देशव्रतरूप श्रावक के धर्म का पालन करता है। उस श्रावक के भाव कैसे होते हैं, उसको सर्वज्ञ की पहिचान, देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आदि भाव कैसे होते हैं; आत्मा के भानसहित राग की मन्दता के प्रकार कैसे होते हैं, वह इसमें बतलाया गया है। इसमें निश्चय-व्यवहार का सामंजस्यपूर्ण सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से प्रवचन में तीसरी बार चल रहा है। पूर्व में दो बार (वीर सं० २४७४ तथा २४८१ में) इस अधिकार पर प्रवचन हो चुके हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी को यह शास्त्र बहुत प्रिय था। उन्होंने इस शास्त्र को 'वनशास्त्र' कहा है और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक इसके अभ्यास का फल अमृत है-ऐसा कहा है।

‘देश-व्रतोद्योतन’ अर्थात् गृहस्थदशा में रहनेवाले श्रावक के धर्म का प्रकाश कैसे हो, उसका इसमें वर्णन है। गृहस्थदशा में भी धर्म हो सकता है। सम्यग्दर्शनसहित शुद्धि किस प्रकार बढ़ती है और राग किस प्रकार टलता है और श्रावक भी धर्म की आराधना करके परमात्मदशा के सन्मुख किस प्रकार जाए—यह बतलाकर इस अधिकार में श्रावक के धर्म का उद्योत किया गया है। समन्तभद्रस्वामी ने भी रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में श्रावक के धर्मों का वर्णन किया है, वहाँ धर्म के ईश्वर तीर्थकर भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म कहा है—(**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मे धर्मेश्वराविदुः**) उसमें सबसे पहले ही सम्यग्दर्शन धर्म का वर्णन किया गया है और उसका कारण सर्वज्ञ की श्रद्धा बतायी गयी है। यहाँ भी पद्मनन्दी मुनिराज, श्रावक के धर्मों का वर्णन करते समय सबसे पहले सर्वज्ञदेव की पहिचान कराते हैं। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे तो मुनि अथवा श्रावक का कोई धर्म नहीं होता। धर्म के जितने प्रकार हैं, उनका मूल सम्यग्दर्शन है। अतः जिज्ञासु को सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन का उद्यम तो सबसे पहले होना चाहिए। उस भूमिका में भी राग की मन्दता इत्यादि के प्रकार किस प्रकार होते हैं, वे भी इसमें बताये गये हैं। निश्चय-व्यवहार की सन्धिसहित सुन्दर बात की गयी है। सबसे पहले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के कहे हुए धर्म की पहिचान करने के लिए कहा गया है।

 *
 * सर्वज्ञता को साधते-साधते वन विहारी सन्त पद्मनन्दी मुनिराज ने यह *
 * शास्त्र रचा है, आत्मा की शक्ति में जो पूर्ण आनन्द भरा है, उसकी प्रतीति करके *
 * उसमें लीन होकर बोलते थे, सिद्ध भगवान के साथ स्वानुभव द्वारा बातें करते *
 * थे और सिद्ध प्रभु जैसे अतीन्द्रिय-आनन्द का बहुत अनुभव करते थे, तब *
 * उन्होंने भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा है। उसमें कहते हैं कि अरे *
 * जीव ! सबसे पहले तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही तेरी *
 * सच्ची जाति तुझे पहिचानने में आ सकेगी। *
 *

***** [१] *****
 *
 * सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म *
 *



श्रावक को प्रथम तो भगवान सर्वज्ञदेव और उनके वचनों की पहिचान तथा श्रद्धा होती है। सर्वज्ञ के स्वरूप में और उनके वचन में जिसे भ्रम होता है, वह तो मिथ्यात्व के महापाप में पड़ा हुआ है, उसे देशत्रत अथवा श्रावकपना नहीं होता.. यह उद्घोषणा करनेवाला प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः,
 कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चिताम्।
 तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्,
 भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

अर्थ : समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान से चार घातियाकर्मों को नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है, उसी सर्वज्ञदेव के वचन, धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं, किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं है - ऐसा भलीभाँति जानकर भी, जिस मनुष्य को सर्वज्ञदेव के वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिए वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है ॥१॥

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह तजकर शुक्लध्यान द्वारा।
 चार घातिया कर्म नाश सर्वज्ञपना जिनने धारा ॥

धर्म कथन में उनकी वाणी परम सत्य है अन्य नहीं ।

जिसकी मति अत्यन्त भ्रमे वह पापी है या भव्य नहीं ॥१॥

देशव्रतरूप श्रावकधर्म का वर्णन करते समय सबसे पहले कहा जाता है कि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा हुआ धर्म का स्वरूप ही सत्य है, इसके सिवाय अन्य का कहा हुआ सत्य नहीं—श्रावक की ऐसी निःशंका श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि धर्म के मूल प्रणेता सर्वज्ञदेव हैं । जिसे उनका ही निर्णय नहीं, उसे धर्म का निर्णय नहीं हो सकता ।

जो सर्वज्ञ हुए वे किस विधि से हुए ?

‘समस्त बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान द्वारा चार घातिकर्मों का नाश करके सर्वज्ञपना प्राप्त किया ।’ देखो, शुक्लध्यान कहो या शुद्धोपयोग कहो, उससे कर्मों का क्षय होकर सर्वज्ञता प्रगट होती है, परन्तु बाहर के किसी साधन से अथवा राग के अवलम्बन से कोई सर्वज्ञता नहीं प्रगटती । मोक्षमार्गप्रकाशक के मंगलाचरण में भी अरिहन्तदेव को नमस्कार करते समय पण्डित श्री टोडरमलजी ने कहा है कि—‘जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभाव साधन से चार घातिकर्मों का क्षय कर अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए हैं... ऐसे श्री अरिहन्तदेव को हमारा नमस्कार हो ।’ मुनिधर्म कैसा ? कि शुद्धोपयोगस्वरूप मुनिधर्म; उसे अंगीकार करके, भगवान ने निज-स्वभाव साधन से कर्मों का क्षय किया; कोई बाह्य साधन से अथवा राग के साधन से नहीं, परन्तु उन्होंने निश्चयरत्नत्रयरूप निजस्वभाव के साधन से ही कर्मों का क्षय किया है । इससे विपरीत साधन माने तो उसने भगवान का मार्ग नहीं जाना, भगवान को नहीं पहिचाना । भगवान को पहिचानकर नमस्कार करे, तब सच्चा नमस्कार कहलाये ।

यहाँ प्रथम ही कहा गया है कि बाह्य-अभ्यन्तर संग को छोड़कर शुक्लध्यान से प्रभु ने केवलज्ञान पाया; अर्थात् कोई जीव घर में रह करके बाहर में वस्त्रादि का संग रख करके केवलज्ञान पा जावे, ऐसा नहीं बनता । अन्तरंग के संग में मिथ्यात्वादि मोह को छोड़े बिना मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता ।

मुनि के महाव्रतादि का राग केवलज्ञान का साधन नहीं है, परन्तु उनको शुद्धोपयोगरूप निजस्वभाव ही केवलज्ञान का साधन है, उसे ही मुनिधर्म कहा गया है । यहाँ उत्कृष्ट बात

बताने का प्रयोजन होने से शुक्लध्यान की बात ली गयी है। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगी मुनि को ही होता है। केवलज्ञान का साधनरूप इस मुनिधर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञदेव की तथा उनके वचनों की पहिचानपूर्वक होता है; इसलिए यहाँ श्रावकधर्म के वर्णन में सबसे पहिले ही सर्वज्ञदेव की पहिचान की बात ली गयी है।

आत्मा का भान करके, मुनिदशा प्रगट करके, शुद्धोपयोग की उग्र श्रेणी माँड करके जो सर्वज्ञ हुए, उन सर्वज्ञ परमात्मा के वचन ही सत्यधर्म का निरूपण करनेवाले हैं; ऐसे सर्वज्ञ को पहिचानने से आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है और तब धर्म का प्रारम्भ होता है। जो सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता, उसे आत्मा की ही प्रतीति नहीं, धर्म की ही प्रतीति नहीं, उसे तो शास्त्रकार 'महापापी अथवा अभव्य' कहते हैं। उसमें धर्म समझने की योग्यता नहीं, इसलिए उसे अभव्य कहा गया है। जिसे सर्वज्ञ के स्वरूप में सन्देह है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे सन्देह है, सर्वज्ञ के सिवा अन्य कोई सत्यधर्म का प्रणेता नहीं है—ऐसा जो नहीं पहिचानता और विपरीत मार्ग में दौड़ता है, वह जीव मिथ्यात्वरूप महापाप का सेवन करता है, उसमें धर्म के लिए योग्यता नहीं है। ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासु को सबसे पहले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के मार्ग की पहिचान करने को कहा है।

अरे! तू ज्ञान की प्रतीति के बिना धर्म कहाँ करेगा? राग में खड़ा रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती। राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके उसके अनुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वी ज्ञानी के जो वचन हैं, वे भी सर्वज्ञ अनुसार हैं क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराजमान हैं। जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हों, उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते।

देखो, यह श्रावकधर्म का प्रथम चरण! यहाँ श्रावकधर्म का वर्णन करना है। सर्वज्ञदेव की पहिचान श्रावकधर्म का मूल है। मुनि के या श्रावक के जितने भी धर्म हैं, उनका मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक के देशव्रत या मुनि के महाव्रत नहीं होते; सम्यग्दर्शनसहित देशव्रती श्रावक कैसा होता है, उसके स्वरूप का इसमें वर्णन है, इसलिए इस अधिकार का नाम 'देशव्रतोद्योतन अधिकार' है। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव प्रगट किया और जैसा वाणी द्वारा कहा, वैसे

आत्मा के अनुभवसहित निर्विकल्प प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ किस प्रकार हुए और उन्होंने क्या कहा, इसका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अज्ञानी को तो सर्वज्ञ किस प्रकार हुए, उसके उपाय की भी खबर नहीं और सर्वज्ञदेव ने क्या कहा, उसकी भी खबर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि जो सर्वज्ञ के मार्ग को नहीं पहिचानता और विपरीत मार्ग का आदर करता है, उसकी बुद्धि भ्रमित है, वह भ्रमबुद्धिवाला है, मिथ्यात्वरूप महापाप में डूबा हुआ है। गृहस्थ का धर्म भी उसे नहीं होता, तो मुनिधर्म की बात ही क्या!

‘बाह्य और अन्तरंग सर्व संग छोड़कर शुक्लध्यान द्वारा भगवान् सर्वज्ञ हुए हैं;’ सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान तो पहले था, फिर मुनि होने पर बाह्य सर्व परिग्रह छोड़ा और अन्तरंग की अशुद्धता छोड़ी। जहाँ अशुद्धता छोड़ी, वहाँ निमित्तरूप में बाह्य संग छोड़ा – ऐसा कहा जाता है। मुनिदशा में समस्त बाह्य संग का त्याग है, देह के ऊपर वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता, भोजन भी हाथ में लेते हैं, भूमि पर सोते हैं; अन्तरंग में शुद्धोपयोगरूप आचरण द्वारा अशुद्धता और उसके निमित्त छूट गये हैं। शुद्धोपयोग की धारारूप जो शुक्लज्ञान, उसके द्वारा स्वरूप को ध्येय में लेकर पर्याय को उसमें लीन होने का नाम ध्यान है। उसके द्वारा घातिकर्मों का नाश होकर केवलज्ञान हुआ है। देखो, पहिले पर्याय में अशुद्धता थी, ज्ञान-दर्शन अपूर्ण थे, मोह था, इसलिए घातिकाकर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध था, और अब शुद्धता होने से, अशुद्धता दूर होने से कर्मों के साथ का सम्बन्ध छूट गया, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य परिपूर्ण रूप से प्रगट हो गये और कर्मों का नाश हो गया। – किस उपाय से? शुद्धोपयोगरूप धर्म द्वारा। इस प्रकार इसमें ये तत्त्व आ जाते हैं—बन्ध, मोक्ष और मोक्षमार्ग। जो सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए ऐसे तत्त्वों का स्वरूप समझे, उसे ही श्रावकधर्म प्रगट होता है।

धर्म का कथन करने में सर्वज्ञदेव के वचन ही सत्य हैं, अन्य के नहीं। सर्वज्ञ को माने बिना कोई कहे कि मैं स्वयमेव जानकर धर्म कहता हूँ—तो उसकी बात सच्ची नहीं होती; और सर्वज्ञ-अरिहन्तदेव के सिवा अन्यमत भी एक समान हैं—ऐसा जो माने, उसे भी धर्म के स्वरूप की खबर नहीं। जैन और अजैन सब धर्मों को समान माननेवाले को तो व्यवहार-श्रावकपना भी नहीं है। इसलिए श्रावकधर्म के वर्णन के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा

है कि सर्वज्ञ के वचन द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है और अन्य धर्म सत्य नहीं, ऐसी प्रतीति श्रावक को पहले ही होना चाहिए।

अहा, सर्वज्ञ! ये तो जैनधर्म के देव हैं। देव के स्वरूप को भी जो न पहिचाने, उसे धर्म कैसा? तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को वर्तमान में सर्वज्ञदेव प्रत्येक समय में स्पष्ट जानते हैं, ऐसी बात भी जिसे नहीं रुचती, उसे तो सर्वज्ञदेव की या मोक्षतत्त्व की प्रतीति नहीं है और आत्मा के पूर्ण ज्ञानस्वभाव की भी उसे खबर नहीं है। श्रावक धर्मात्मा तो भ्रान्तिरहित सर्वज्ञदेव का स्वरूप जानता है और ऐसा ही निजस्वरूप साधता है। जैसे लेंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठ पुटी चरपराहट भरी है, वही व्यक्त होती है; उसी प्रकार जगत के अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीव में सर्वज्ञता की शक्ति भरी है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होने से वह प्रगट होती है।

देह से भिन्न, कर्म से भिन्न, राग से भिन्न और अल्पज्ञता से भी भिन्न परिपूर्ण ज्ञ-स्वभावी आत्मा जैसा भगवान ने देखा और स्वयं प्रगट किया, वैसा ही वाणी में कहा है। वैसी आत्मा की और उसके कहनेवाले सर्वज्ञ की प्रतीति करने जाए, वहाँ रागादि की रुचि नहीं रहती; संयोग, विकार या अल्पज्ञता की रुचि छूटकर स्वभावसन्मुख रुचि होती है, तभी सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान होती है और तभी श्रावकपना प्रगट होता है। जैनकुल में जन्म लेने से ही कोई श्रावक नहीं हो जाता, परन्तु अन्तर में जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव की पहिचान करे और उनके द्वारा कहे हुए वस्तुस्वरूप को पहिचाने, तभी श्रावकपना होता है। अरे, श्रावकपना किसे कहते हैं, इसकी भी बहुत जीवों को खबर नहीं। इसलिए यहाँ देशव्रत-उद्योतन में पद्मनन्दीस्वामी ने श्रावक के धर्म का उद्योत किया है, उसका स्वरूप प्रकाशित किया है।

मांगलिक में हमेशा बोलते हैं कि 'केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि'— अर्थात् मैं केवली भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ। परन्तु सर्वज्ञ— केवली कैसे हैं और उनके द्वारा कहे हुए धर्म का स्वरूप कैसा है, उसकी पहिचान बिना किसकी शरण लेगा?—पहिचान करे तो सर्वज्ञ के धर्म की शरण लेना कहलाता है और उसे स्वाश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होते हैं। मात्र बोलने से धर्म की शरण नहीं

मिलती, परन्तु केवली भगवान ने जैसा धर्म कहा है, उसकी पहिचान करके अपने में वैसा भाव प्रगट करे तो केवली के धर्म की शरण ली कहलाये।

सबसे पहले सर्वज्ञदेव की और उनके द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान करने को कहा गया है। शास्त्रकार ने मात्र बाह्य अतिशय द्वारा या समवसरण के वैभव द्वारा भगवान की पहिचान नहीं करायी परन्तु सर्वज्ञतारूप चिह्न द्वारा भगवान की पहिचान करायी, तथा उनके द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है, ऐसा कहा है। जगत में छह प्रकार के स्वतन्त्र द्रव्य, नौ तत्त्व और प्रत्येक आत्मा का पूर्ण स्वभाव जानकर स्वाश्रय से धर्म बतलानेवाली सर्वज्ञ की वाणी, और रागादिक पराश्रितभाव से धर्म मनवानेवाली अज्ञानी की वाणी—इनके बीच विवेक करना चाहिए। स्वाश्रित शुद्धोपयोग शुक्लध्यान के साधन से भगवान सर्वज्ञ हुए हैं।

प्रश्न:—वह शुक्लध्यान कैसा है ? क्या शुक्लध्यान का रंग सफेद है ?

उत्तर:—अरे भाई ! शुक्लध्यान तो चैतन्य के आनन्द के अनुभव में लीनता की धारा है, वह तो केवलज्ञान प्राप्ति की श्रेणी है। उसका रंग नहीं होता। सफेद रंग तो रूपी पुद्गल की पर्याय है। यहाँ शुक्लध्यान में 'शुक्ल' का अर्थ सफेद रंग नहीं, परन्तु शुक्ल का अर्थ है, राग की मलिनता रहित, उज्वल, पवित्र। शुक्लध्यान तो अरूपी आत्मा की अरूपी पर्याय है। इस स्वरूप-साधन द्वारा ही भगवान ने केवलज्ञान पाया है। ऐसे साधन को पहिचाने तो भगवान की सच्ची पहिचान हो। इस सर्वज्ञता को साधते-साधते वन-निवासी सन्त पद्मनन्दी मुनिराज ने यह शास्त्र रचा है। आत्मा की शक्ति में जो पूर्णानन्द भरा है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा बोलते थे, सिद्ध भगवान के साथ अन्तर में अनुभव द्वारा बात करते थे और सिद्धप्रभु जैसा अतीन्द्रिय आनन्द का बहुत अनुभव करते थे; वहाँ भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा गया है। गृहस्थ का धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि—'अरे जीव ! सबसे प्रथम तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही अपनी सच्ची जाति पहिचान में आ जाएगी।'

महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सर्वज्ञ परमात्मा सीमन्धरादि भगवन्त विराज रहे हैं, वहाँ लाखों सर्वज्ञ भगवन्त हैं, ऐसे अनन्त हो गये हैं और प्रत्येक जीव में ऐसी शक्ति है। अहो,

आत्मा की पूर्णदशा को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा इस लोक में विराज रहे हैं—ऐसी बात कान में पड़ते ही जिसे आत्मा में ऐसा उल्लास आया कि वाह ! आत्मा का ऐसा वैभव ! आत्मा की ऐसी अचिंत्य शक्ति ! ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञ होने की और पूर्ण आनन्द की शक्ति है; मेरी आत्मा में भी ऐसी ही शक्ति है ।—इस प्रकार स्वभाव की महिमा जिसे जागृत हुई, उसे शरीर की, राग की या अल्पज्ञता की महिमा नष्ट हो जाती है और उसकी परिणति ज्ञानस्वभाव की ओर झुक जाती है । उसका परिणमन संसारभाव से पीछे हटकर सिद्धपद की ओर लग जाता है । जिसकी ऐसी दशा होती है, उसे ही सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा हुई है और सर्वज्ञदेव ने अल्प काल में ही उसकी मुक्ति देखी है ।

सर्वज्ञता की महिमा की तो बात ही क्या है ! इस सर्वज्ञ की पहिचान में भी कैसे अपूर्व भाव होते हैं और उसमें कितना पुरुषार्थ है, उसकी लोगों को खबर नहीं है । सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही मुमुक्षु को उनके प्रति अपार भक्ति उल्लसित होती है । यहाँ पूर्ण ज्ञान-आनन्द को प्राप्त ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति पहिचानपूर्वक यथार्थ भक्ति उल्लसित हुई, वहाँ अब अन्य किसी की (पुण्य की या संयोग की) महिमा नहीं रहती; उसका आदर नहीं रहता और संसार में भटकने का भी सन्देह नहीं रहता । अरे ! जहाँ ज्ञानस्वभाव का आदर किया और जिस ज्ञान में सर्वज्ञ की स्थापना की, उस ज्ञान में अब भव कैसा ? ज्ञान में भव नहीं, भव का सन्देह नहीं । अरे जीव ! एक बार तो सर्वज्ञ को पहिचानकर उनके गीत गा । इस पृथ्वी-तल का मृग भी जिन भगवान के गीत सुनने के लिए ठेठ चन्द्रलोक में गया, तो यहाँ सन्त, सर्वज्ञता की महिमा का गुणगान सुनायें और उसको सुनते हुए मुमुक्षु को भक्ति का उल्लास न आये, ऐसा कैसे बने ? ऐसे सर्वज्ञ की पहिचान, यह श्रावक का पहला लक्षण है, और यह धर्म का मूल है । जो सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, जिसे उसके वचनों में भ्रम है और जो विपरीत मार्ग को मानता है, उसे तो श्रावकपना नहीं होता और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं है । मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है । इसलिए मुमुक्षु को सर्व प्रथम सर्वज्ञदेव की पहिचान करनी चाहिए ।

अहा नाथ ! आपने एक समय में तीन काल-तीन लोक को साक्षात् जाना और दिव्यवाणी में आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव को प्रगट किया; आपकी वह वाणी हमने सुनी तो अब आपकी सर्वज्ञता में अथवा मेरे ज्ञानस्वभाव में सन्देह नहीं रहा ।

आत्मा में शक्ति भरी है, उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होती है—ऐसी आत्मशक्ति की जिसे प्रतीति नहीं और बाहर के साधन से धर्म करना चाहता है, वह तो बड़ा अविवेकी है, दृष्टिहीन है। ज्ञानस्वभाव की और सर्वज्ञ की श्रद्धा बिना 'शास्त्र में ऐसा लिखा और उसका अर्थ ऐसा होता है'—ऐसा ज्ञानी के साथ वाद-विवाद करे, वह तो आकाश में उड़ते पक्षियों को गिनने के लिए आँखोंवाले के साथ अन्धा होड़ करे—इस प्रकार है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बिना, सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शास्त्र के अर्थ को प्रगट करना अशक्य है। अतः पहले ही श्लोक में सर्वज्ञ की और उनकी वाणी की पहिचान करने को कहा गया है। सर्वज्ञ की श्रद्धा, मोक्ष के मण्डप का माणिकस्तम्भ है; उस सर्वज्ञ के अर्थात् मोक्षतत्त्व के गीत गाकर उसकी श्रद्धारूप मांगलिक किया।

अब ऐसे सर्वज्ञ की पहिचानवाले सम्यग्दृष्टि जीवों को विरलता बतलाकर उसकी महिमा करते हुए दूसरे श्लोक में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अकेला हो तो भी इस लोक में शोभनीय और प्रशंसनीय होता है।



 * अखण्ड द्रव्य को ग्रहण करके प्रमत्त-अप्रमत्त स्थिति में झूले, वह *
 * मुनिदशा। मुनिराज स्वरूप में निरन्तर जागृत हैं। मुनिराज जहाँ जागते हैं, वहाँ *
 * जगत सोता है; जगत जहाँ जागता है, वहाँ मुनिराज सोते हैं। 'मुनिराज जो *
 * निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें।' *
 * (—पूज्य बहिनश्री के वचनामृत में से) *

***** [२] *****
*
* धर्म के आराधक सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा *
*

*
* जगत में सर्वज्ञ का अनुसरण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव तो बहुत थोड़े *
* हैं और उनसे विरुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, ऐसा किसी को लगे तो कहते *
* हैं, कि—हे भाई! आनन्ददायक ऐसे अमृतपथरूप मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दृष्टि *
* कदाचित् एक ही हो तो वह अकेला शोभनीक और प्रशंसनीय है, और *
* मोक्षमार्ग से भ्रष्ट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत से हो तो भी वे शोभनीक नहीं हैं। *
* ऐसा कहकर सम्यक्त्व की आराधना में उत्साह उत्पन्न करते हैं। *
*

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमति प्रीतः शुचौ दर्शने,
सः श्लाघ्यः खलु दुःखितौप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत्।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितेः अत्यन्तदूरीकृत,
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैः मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥२॥

अर्थ : खोटे कर्म के उदय से दुःखित भी जो मनुष्य, सन्तुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है किन्तु जो अत्यन्त आनन्द के देनेवाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य हैं तथा वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं - ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य, यदि बहुत से भी होवे तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं ॥२॥

यदि एक भी प्रीति सहित सम्यग्दर्शन धारण करता।
दुखी रहे यदि पापोदय से तो भी वह है श्लाघ्य कहा ॥

मिथ्यापथगामी बहु संख्यक हों या अतिशय सुखी दिखें।

अति आनन्द प्रदायक रत्नत्रय शिवपथ से दूर रहें ॥२॥

देखिये, इस सम्यग्दर्शन की विरलता बतलाकर कहते हैं कि, इस जगत में अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जो जीव पवित्र जैनदर्शन में स्थिति करता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन को निश्चलरूप से आराधता है, वह जीव चाहे एक ही हो और कदाचित् पूर्व कर्मोदय से दुःखी हो तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनन्ददायक अमृतमार्ग में वह स्थित है। किन्तु जो अमृतमय मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं और मिथ्यामार्ग में ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हों और शुभकर्म से प्रमुदित हों तो भी उससे क्या प्रयोजन है?—यह कोई प्रशंसनीय नहीं है।

भाई! संसार में तो कौवे-कुत्ते, कीड़े-मकोड़े इत्यादि अनन्त जीव हैं, परन्तु जैनदर्शन प्राप्त कर जो जीव पवित्र सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वे ही जीव शोभनीक हैं। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य भी प्रशंसनीय या वांछनीय नहीं है। जगत् में मिथ्यादृष्टि बहुत हों और सम्यग्दृष्टि चाहे थोड़े हों तो उससे क्या? जैसे जगत में कोयला बहुत हो और हीरे क्वचित् हो, तो उससे क्या कोयले की कीमत बढ़ गयी? नहीं; थोड़ा हो तो भी जगमगाता हीरा शोभता है, उसी प्रकार थोड़े हों तो भी सम्यग्दृष्टि जीव जगत में शोभते हैं। हीरे हमेशा थोड़े ही होते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा अन्य कुमत के माननेवाले जीव यहाँ बहुत दिखते हैं, उससे धर्मात्मा को कभी सन्देह नहीं होता है कि वे कुमत सच्चे होंगे! वह तो निःशंकरूप से और परम प्रीति से जैनधर्म को अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को आराधता है और ऐसे धर्मी जीवों से ही यह जगत शोभित हो रहा है।

सर्वज्ञदेव के कहे हुए पवित्र दर्शन में जो प्रीतिपूर्वक स्थिति करता है, अर्थात् निश्चलपने शुद्ध सम्यग्दर्शन को आराधता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव अकेला हो तो भी जगत में प्रशंसनीय है। चाहे कदाचित् पूर्व के कोई दुष्कर्म के उदय से वह दुखित हो—बाहर की प्रतिकूलता से भरा हुआ हो, निर्धन हो, काला-कुबड़ा हो, तो भी अन्तरंग की अनन्त चैतन्यऋद्धि का स्वामी वह धर्मात्मा परम आनन्दरूप अमृतमार्ग में स्थित है। करोड़ों, अरबों में वह अकेला हो तो भी शोभता है, प्रशंसा पाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शन सम्पन्न है, वह चाण्डाल के देह में

उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे 'देव' कहते हैं। जैसे भस्म से ढँके हुए अंगारे के अन्दर प्रकाश-तेज है; उसी प्रकार चाण्डाल की देह से ढँका हुआ वह आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के दिव्यगुण से प्रकाशित हो रहा है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।

देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसं ॥२८ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी मोक्षमार्ग में स्थित है। उसे भले ही बाहर की प्रतिकूलता कदाचित् हो, परन्तु अन्दर में तो उसे चैतन्य के आनन्द की लहर है। इन्द्र के वैभव में भी जो आनन्द नहीं, उस आनन्द का वह अनुभव करता है। पूर्व कर्म का उदय उसे नहीं डिगा सकता। वह सम्यक्त्व में निश्चल है। कोई जीव तिर्यच हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका हो, रहने को मकान न हो, तो भी वह आत्मगुणों से शोभता है और मिथ्यादृष्टि जीव सिंहासन पर बैठा हो, तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। बाहर के संयोग से आत्मा की कुछ शोभा नहीं है। आत्मा की शोभा तो अन्दर के सम्यग्दर्शनादि गुणों से है। अरे! छोटा-सा मेंढक हो, समवसरण में बैठा हो, वह भगवान की वाणी सुनकर अन्दर में उतरकर सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्य के अपूर्व आनन्द का अनुभव करे, वहाँ अन्य किस साधन की जरूरत है? और बाहर की प्रतिकूलता जैसे बाधक हो सकती है? इसलिए कहा है कि चाहे पापकर्म का उदय हो, परन्तु हे जीव! तू सम्यक्त्व की आराधना में निश्चल रह। पापकर्म का उदय हो; उससे कोई सम्यक्त्व की कीमत नहीं चली जाती, उससे तो पापकर्म निजरता जाता है; चारों ओर से पापकर्म के उदय से घिरा हुआ हो, अकेला हो, तो भी जो जीव प्रीतिपूर्वक सम्यक्त्व को धारण करता है, वह अत्यन्त आदरणीय है। चाहे जगत में अन्य उसे न माने, चाहे अंधी दृष्टिवाला उसे साथ न देवे, तो भी अकेला वह मोक्ष के मार्ग में आनन्दपूर्वक चला जाता है। उसने शुद्ध आत्मा में मोक्ष का अमृतमार्ग देख लिया है, उस मार्ग पर निःशंक चला जाता है। क्या इसका पूर्वकर्म का उदय है! इसकी वर्तमान परिणति उदय की तरफ कुछ भी नहीं झुकती, इसकी परिणति तो चैतन्यस्वभाव की तरफ झुककर आनन्दमयी बन गयी। उस परिणति से वह अकेला शोभता है। जैसे जंगल में वन का राजा सिंह अकेला भी शोभता है, वैसे ही संसार में चैतन्य का राजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। सम्यक्त्व के साथ पुण्य हो तो ही वह जीव शोभा पावे—पुण्य की ऐसी

अपेक्षा सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि पाप के उदय से भी जुदा है और पुण्य के उदय से भी जुदा है; दोनों से जुदा अपने ज्ञानभाव सम्यक्त्व से ही वह शोभता है। आनन्दमय अमृतमार्ग में आगे बढ़ता हुआ वह अकेला मोक्ष में चला जाता है। श्रेणिक राजा आज भी नरक में हैं परन्तु उनकी आत्मा सम्यक्त्व को प्राप्त कर अभी मोक्षमार्ग में गमन कर रही है, सम्यक्त्व के प्रताप से थोड़े समय में वे तीन लोक के स्वामी होंगे।

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, जिसे धर्म की खबर नहीं, जो अमृतमार्ग से भ्रष्ट है और मिथ्यामार्ग में गमन करता है, वह जीव चाहे कदाचित् पुण्योदय के ठाठ से घिरा हुआ (छूटा हुआ नहीं परन्तु घिरा हुआ) हो और लाखों-करोड़ों जीव उसे माननेवाले हों, तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता; अरे, धर्म में इसकी क्या कीमत? कोई कहे कि 'पवित्र जैनदर्शन सिवा अन्य कोई विपरीत मार्ग को इतने सब जीव मानते हैं, इससे उसमें कोई शोभा होगी! कोई सच्चा होगा!'—तो कहते हैं कि नहीं; इसमें अंशमात्र शोभा नहीं, सत्य नहीं। ऐसे मिथ्यामार्ग में लाखों जीव होवें तो भी वे नहीं शोभते, क्योंकि आनन्द से भरे हुए अमृतमार्ग की उन्हें खबर नहीं है, वे मिथ्यात्व के जहर से भरे हुए मार्ग में जा रहे हैं। जगत में किसी कुपंथ को लाखों मनुष्य मानें, उससे धर्मी को शंका नहीं होता कि उसमें कुछ शोभा होगी! और सत्यपंथ के बहुत थोड़े जीव होवें, आप अकेला हो तो भी धर्मी को सन्देह नहीं होता कि सत्यमार्ग यह होगा या अन्य होगा!—वह तो निःशंकरूप से परम प्रीतिपूर्वक सर्वज्ञ के कहे हुए पवित्र मार्ग को साधता है। इस प्रकार सत्पंथ में अथवा मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। जगत की प्रतिकूलता का घेरा उसे सम्यक्त्व से डिगा नहीं सकता।

यहाँ मोक्षमार्ग को आनन्द से परिपूर्ण अमृतमार्ग कहा है, इसी कारण भ्रष्ट मिथ्यामार्ग में स्थित लाखों-करोड़ों जीव भी नहीं शोभते; और आनन्द पूर्ण अमृतमार्ग में एक-दो-तीन सम्यग्दृष्टि होवें तो भी वे जगत में शोभते हैं। अतः इस सम्यक्त्व को निश्चलरूप से धारण करो। मुनिधर्म हो अथवा श्रावकधर्म हो, उसमें सम्यग्दर्शन सबसे पहले हैं। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक अथवा मुनिधर्म नहीं होता। अतः हे जीव! तुझे धर्म करना हो और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना कर, उसी से ही धर्मीपना होगा।

सत् का माप संख्या के आधार से नहीं है और सत् को दुनिया की प्रशंसा की

आवश्यकता नहीं है। दुनिया में अधिक जीव मानें और अधिक जीव आदर देवें तो ही सत् को सत् कहा जावे—ऐसा नहीं; थोड़े माननेवाले हों तो भी सत् शोभता है; सत् अकेला अपने से शोभता है।

अहा! सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा जिसकी प्रतीति में आ गया है, अनुभव में आ गया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, पुण्य की मन्दता से कदाचित् धनहीन हो, पुत्रहीन हो, काला-कुबड़ा हो, रोगी हो, स्त्री अथवा तिर्यच हो, चाण्डाल इत्यादि नीच कुल में जन्मा हो, लोक में अनादर होता हो, बाहर में असाता के उदय से दुःखी हो—ऐसे चाहे जितनी प्रतिकूलता के बीच खड़ा होते हुए भी, सम्यग्दर्शन के प्रताप से वह अपने चिदानन्दस्वरूप में सन्तुष्टता से मोक्षमार्ग को साध रहा है, इस कारण वह जगत में प्रशंसनीय है, गणधरादि सन्त उसके सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हैं। इसका आनन्दकन्द आत्मा कोई निर्धन नहीं, इसका आत्मा रोगी नहीं, इसका आत्मा काला-कुबड़ा अथवा चाण्डाल नहीं, इसका आत्मा स्त्री नहीं, यह तो चिदानन्दस्वरूप ही अपने को अनुभवता है। अन्दर में अनन्त गुणों की निर्मलता का खजाना इसके पास है।

श्री दौलतरामजी कवि, सम्यग्दृष्टि की अन्तरंगदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

‘चिन्मूरत दृग्धारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी।

बाहर नारकीकृत दुख भोगत, अंतर सुखरस गटागटी ॥’

नारकी को बाह्य में क्या कोई अनुकूलता है? नहीं। तो भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; छोटा मेंढक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; वह प्रशंसनीय है। ढाई द्वीप में समवसरण आदि में बहुत से तिर्यच सम्यग्दृष्टि हैं, इसके बाद ढाई द्वीप के बाहर तो असंख्यात तिर्यच, आत्मा के ज्ञानसहित चौथे-पाँचवें गुणस्थान में विराज रहे हैं। सिंह-बाघ और सर्प जैसे प्राणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे जीव प्रशंसनीय हैं। अन्दर से चैतन्य का पाताल फोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है—उसकी महिमा की क्या बात! बाहर के संयोग से देखे, उसे यह महिमा दिखायी नहीं देती, परन्तु अन्दर आत्मा की दशा क्या है, उसे पहिचाने तो उसकी महिमा का ज्ञान हो। सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के आनन्द को देखा है, उसका स्वाद चखा है, भेदज्ञान हुआ है, वह वास्तव में आदरणीय है, पूज्य है। बड़े राजा-महाराजा को प्रशंसनीय नहीं कहा, स्वर्ग के देव को प्रशंसनीय नहीं कहा, परन्तु

सम्यग्दृष्टि को प्रशंसनीय कहा है, फिर भले ही वह तिर्यच पर्याय में हो, नरक में हो, देव में हो या मनुष्य में हो, वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। जो सम्यग्दर्शन की साधना कर रहे हैं, वे ही धर्म में अनुमोदनीय हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य त्याग-व्रत या शास्त्रज्ञान आदि बहुत हो तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि यह हमको प्रशंसनीय नहीं लगता, क्योंकि यह कोई आत्मा के हित का कारण नहीं बनता है। हित का मूल कारण तो सम्यग्दर्शन है। करोड़ों-अरबों जीवों में एक ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह उत्तम है—प्रशंसनीय है, और विपरीत मार्ग में बहुत हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं हैं।—ऐसा समझकर हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की आराधना कर, ऐसा तात्पर्य है।

शरीर क्या आत्मा का है? जो अपना नहीं, वह चाहे जैसा हो, उसके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है?—इसलिए धर्मी का महत्व संयोग से नहीं; धर्मी का महत्व निज चिदानन्द स्वभाव की अनुभूति से ही है।

हजारों भेड़ों के समूह की अपेक्षा जंगल में अकेला सिंह भी शोभता है, उसी प्रकार जगत के लाखों जीवों में सम्यग्दृष्टि अकेला भी (गृहस्थपने में हो तो भी) शोभता है। मुनि सम्यग्दर्शन के बिना नहीं शोभता और सम्यग्दृष्टि मुनिपना के बिना भी शोभता है। वह मोक्ष का साधक है, वह जिनेश्वरदेव का पुत्र है; लाख प्रतिकूलताओं के बीच में भी वह जिनशासन में शोभता है। मिथ्यादृष्टि करोड़ों और सम्यग्दृष्टि एक-दो ही हों तो भी सम्यग्दृष्टि ही शोभते हैं। बहुत चींटियों का समूह एकत्रित हो जाए, उससे कोई उनकी कीमत बढ़ नहीं जाती; वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव बहुत इकट्ठे हो जावें, उससे वे प्रशंसा प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य के बहुत संयोग प्राप्त हों तो भी आत्मा नहीं शोभता; और नरक में जहाँ हजारों-लाखों या असंख्यात वर्षों पर्यन्त अनाज का कण या पानी की बूँद भी नहीं मिलती, वहाँ भी आनन्दकन्द आत्मा का भान कर सम्यग्दर्शन से आत्मा शोभित हो उठता है। *प्रतिकूलता कोई दोष नहीं और अनुकूलता कोई गुण नहीं है। गुण-दोषों का सम्बन्ध बाहर के संयोग के साथ नहीं; आत्मा के स्वभाव की और सर्वज्ञदेव की श्रद्धा सच्ची या

* जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हुए हम नीचे का श्लोक बोलते हैं, उसमें भी यह भावना गुँथी हुई है—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवत् चक्रवर्त्यपि।

स्यात् चेटोपि दरिद्रोपि जिनधर्मानुवासितः ॥

खोटी, उसके ऊपर गुण-दोष का आधार है। धर्मी जीव स्वभाव के अनुभव से-श्रद्धा से अत्यन्त सन्तुष्टरूप रहते हैं, जगत के किसी संयोग की वांछा उन्हें नहीं। सम्यग्दर्शन रहित जीव हजारों शिष्यों से पूजित हो तो भी वह प्रशंसनीय नहीं, और विरले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को माननेवाले कोई न हों तो भी वह प्रशंसनीय हैं, क्योंकि वह मोक्ष का पथिक है, वह सर्वज्ञ का 'लघुनन्दन' है। मुनि तो सर्वज्ञ के ज्येष्ठ पुत्र हैं, और सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन अर्थात् छोटे पुत्र हैं। भले ही वे छोटे पुत्र हों, परन्तु हैं तो सर्वज्ञ के उत्तराधिकारी, वे अल्प काल में तीन लोक के नाथ-सर्वज्ञ होंगे।

रोगादि जैसी प्रतिकूलता में भी 'मैं स्वयंसिद्ध, चिदानन्दस्वभावी परमात्मा हूँ' ऐसी निजात्मा की अन्तरप्रतीति धर्मी से नहीं छूटती। आत्मा के स्वभाव की ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है और उसमें सर्वज्ञदेव की वाणी निमित्तरूप है; उसमें जिसे सन्देह है, उस जीव को धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जिनवचन में और जिनवाणी में दर्शाये आत्मस्वभाव में प्रतीति कर सम्यग्दर्शन में निश्चलरूप से स्थिति करते हैं। ऐसे जीव जगत में तीनों काल में विरले ही होते हैं। वे भले ही थोड़े हों, तो भी वे प्रशंसनीय हैं। जगत के सामान्य जीव भले उन्हें नहीं पहिचानें परन्तु सर्वज्ञ भगवन्तों, सन्तों और ज्ञानियों के द्वारा वे प्रशंसा के पात्र हैं; भगवान और सन्तों ने उन्हें मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है। जगत में इससे बड़ी अन्य कोई प्रशंसा है? बाहर में चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग हो तो भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा पवित्र दर्शन से चलायमान नहीं होता।

प्रश्न:— चारों ओर प्रतिकूलता से घिरे हुए ऐसे दुखिया को सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का अवकाश कहाँ से मिलेगा?

उत्तर:— भाई! सम्यग्दर्शन में क्या कोई संयोग की आवश्यकता है? प्रतिकूल संयोग कोई दुःख के कारण नहीं और अनुकूल संयोग कोई सम्यक्त्व के कारण नहीं। आत्मस्वरूप में भ्रान्ति ही दुःख का कारण है और आत्मस्वरूप की निर्भ्रान्त प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन सुख का कारण है। यह सम्यग्दर्शन कोई संयोगों के आश्रय से नहीं है, परन्तु अपने सहज स्वभाव के ही आश्रय से है। अरे! नरक में तो कितनी असह्य प्रतिकूलता है! यहाँ खाने को अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता, सर्दी-गर्मी का पार नहीं, शरीर में पीड़ा का पार नहीं, कुछ भी सुविधा नहीं, तो भी वहाँ पर (सातवें नरक में भी) असंख्यात जीव

सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं; वह उन्होंने किस आधार से प्राप्त किया ? संयोग का लक्ष्य छोड़, परिणति को अन्तर में लगाकर आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। नरक में भी यह सम्यग्दर्शन होता है तो यहाँ क्यों न होवे ? यहाँ कोई नरक जितनी तो प्रतिकूलता नहीं है ? आप अपनी रुचि पलट आत्मा की दृष्टि करे तो संयोग कोई विघ्न नहीं करते। अपनी रुचि न पलटावे और संयोग का दोष बतावे तो वह मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ तो पैसा होवे अथवा पुण्य होवे तो जीव प्रशंसनीय है, ऐसा नहीं कहा है परन्तु जिसके पास धर्म है, वही जीव प्रशंसनीय है, ऐसा कहा है। पैसा अथवा पुण्य क्या आत्मा के स्वभाव की चीज़ है ? जो अपने स्वभाव की चीज़ न हो, उससे आत्मा की शोभा कैसे होवे ? हे जीव ! तेरी शोभा तो तेरे निर्मल भावों से है; अन्य से तेरी शोभा नहीं। अन्तरस्वभाव की प्रतीति करके उसमें तू स्थित रह, इतनी ही तेरी मुक्ति की देर है।

अनुकूल-प्रतिकूल संयोग के आधार से धर्म-अधर्म का कोई माप नहीं। धर्मी हो, उसे प्रतिकूलता आवे ही नहीं—ऐसा नहीं है। हाँ, इतना सत्य है कि प्रतिकूलता में धर्मी जीव अपने धर्म को नहीं छोड़ता। कोई कहे कि धर्मी के पुत्र इत्यादि मरते ही नहीं, धर्मी के रोग होता ही नहीं, धर्मी के जहाज डूबते ही नहीं, तो उसकी बात सच्ची नहीं। उसको धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। धर्मी को भी पूर्व पाप का उदय होने पर ऐसा भी हो सकता है। कोई समय धर्मी के पुत्रादि की आयु थोड़ी भी हो और अज्ञानी के पुत्रादि की आयु विशेष हो।—परन्तु उससे क्या ? यह तो पूर्व के बन्ध हुए, शुभ-अशुभ कर्म के खेल हैं। इसके साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध नहीं। धर्मी की शोभा तो अपनी आत्मा से ही है। संयोग से इनकी कोई शोभा नहीं है। मिथ्यादृष्टि को संयोग कोई समय अनुकूल होवे; परन्तु अरे ! मिथ्यामार्ग का सेवन वह महा दुःख का कारण है, इसकी प्रशंसा क्या ? कुदृष्टि की—कुमार्ग की प्रशंसा धर्मी जीव नहीं करता।

सम्यक्प्रतीति द्वारा निजस्वभाव से जो जीव भरा हुआ है और पाप के उदय के कारण संयोग से रहित है (अर्थात् अनुकूल संयोग उसे नहीं) तो भी उसका जीवन प्रशंसनीय है—सुखी है। मैं मेरे सुखस्वभाव से भरा हुआ हूँ और संयोग से खाली हूँ, ऐसी अनुभूति धर्मी को सदा ही वर्तती है। वह सत्य का सत्कार करनेवाला है, आनन्ददायक अमृतमार्ग

पर चलनेवाला है; और जो जीव स्वभाव से तो खाली है—पराश्रय की श्रद्धा करता है अर्थात् आनन्द से भरे हुए निजस्वभाव को जो नहीं देखता और विपरीत दृष्टि से राग को ही धर्म मानता है, संयोग से और पुण्य से अपने को भरा हुआ मानता है, वह जीव बाहर के संयोग से सुखी जैसा दिखता हो तो भी वह वास्तव में महा दुःखी है, संसार के ही मार्ग में है। बाहर का संयोग कोई वर्तमान धर्म का फल नहीं। धर्मी जीव बाहर से चाहे खाली हो परन्तु अन्तर में भरे हुए श्रद्धा, तद्रूप ज्ञान और बल से वह केवलज्ञानी होगा; और जो जीव संयोग से भरा हुआ परन्तु स्वभाव-ज्ञान से शून्य (खाली) है—वह सम्यग्दर्शन से रहित है। वह विपरीत दृष्टि से संसार में कष्ट उठावेगा। आत्मा को स्वभाव से भरा हुआ और संयोग से खाली माना तो वह उसके फल में संयोग रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

संयोग से आत्मा की महत्ता नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो,
 शुं कुटुंबके परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो ?
 वधवापणुं संसारनुं नर-देह ने हारी जवो,
 अेओ विचार नहीं अहो हो! अेक पळ तमने हवो।

अरे, संयोग से आत्मा की महत्ता मानी, यह तो स्वभाव को भूलकर इस अनमोल मनुष्यभव को हारने जैसा है। अतः हे भाई! इस मनुष्यभव को प्राप्त करके आत्मा का भान कैसे हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर भवभ्रमण कैसे मिटे, उसका पुरुषार्थ कर।

जगत में असत् माननेवाले बहुत होवें—उससे क्या, और सत्य धर्म समझनेवाले थोड़े ही हों—उससे क्या?—उससे कोई असत् की कीमत बढ़ जावे और सत् की कीमत घट जावे—ऐसा नहीं है। कीड़ी के दल बहुत से हों और मनुष्य थोड़े हों—उससे कोई कीड़ी की कीमत बढ़ नहीं जाती। जगत में सिद्ध सदा थोड़े और संसारी जीव बहुत हैं, उससे सिद्ध की अपेक्षा संसार की कीमत क्या बढ़ गयी? जैसे अफीम का चाहे बड़ा ढेला हो तो भी वह कड़वा है, और शक्कर की छोटी सी कणिका हो तो भी वह मीठी है; उसी प्रकार मिथ्यामार्ग में करोड़ों जीव हों तो भी वह मार्ग जहर जैसा है, और सम्यक्मार्ग में चाहे थोड़े जीव हों तो भी वह मार्ग अमृत जैसा है। जैसे थाली चाहे सोने की हो परन्तु यदि उसमें

जहर भरा हो तो वह नहीं शोभता और खानेवाला मरता है; उसी प्रकार कोई जीव चाहे पुण्य के ठाठ के मध्य में पड़ा हो परन्तु यदि वह मिथ्यात्वरूपी जहर सहित है, तो वह नहीं शोभता, वह संसार में भावमरण कर रहा है। परन्तु जिस प्रकार थाली चाहे लोहे की हो किन्तु उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाती है और खानेवाले को तृप्ति देती है; उसी प्रकार चाहे प्रतिकूलता के समूह में पड़ा हो परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनरूपी अमृत से भरा हुआ है, वह शोभता है, वह आत्मा के परम सुख को अनुभवता है और अमृत जैसे सिद्धपद को प्राप्त करता है।

‘परमात्मप्रकाश’, पृष्ठ २०० में कहा है कि—

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥

सम्यक्त्वसहित जीव का नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वरहित जीव का देवलोक में निवास होना भी नहीं शोभता। सम्यग्दर्शन के बिना देवलोक के देव भी दुःखी ही हैं। शास्त्र में तो उन्हें पापी कहा है—‘सम्यक्त्वरहितजीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते।’

—ऐसा जानकर श्रावक को सबसे पहले सम्यक्त्व की आराधना करनी चाहिए।

पहली गाथा में भगवान् सर्वज्ञदेव की और उनकी वाणी की पहिचान तथा श्रद्धा होने पर ही श्रावकधर्म होता है—ऐसा बतलाया; और दूसरी गाथा में ऐसी श्रद्धा करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े हो तो भी वे प्रशंसनीय हैं—ऐसा बतलाकर उसकी आराधना का उपदेश दिया है। अब, तीसरी गाथा में श्री पद्मनन्दीस्वामी उस सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहकर उसकी प्राप्ति के लिए परम उद्यम करने को कहते हैं। ●●●

***** [३] *****
*
* मोक्ष का बीज सम्यक्त्व, संसार का बीज मिथ्यात्व *
* (सम्यग्दर्शन हेतु परम प्रयत्न का उपदेश) *
*

*
* मोक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और भव का बीज मिथ्यादर्शन है; अतः *
* जो मोक्ष के अभिलाषी हों, ऐसे मुमुक्षु जीव मोक्ष के बीजभूत सम्यग्दर्शन *
* को अत्यंत प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करें। अनन्त काल से इस भवभ्रमण में भटकते *
* हुए कोई विरला प्राणी स्व-प्रत्यक्ष द्वारा उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। *
* उसको प्राप्ति के परम प्रयत्न हेतु ज्ञानी का उपदेश है। *
*

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३॥

अर्थ : मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तमपुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर, उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक, तिर्यच आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में, अनादि काल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी, इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है? अर्थात् सम्यग्दर्शन का पाना अत्यन्त दुर्लभ है ॥३॥

बीज मोक्ष का सम्यग्दर्शन भवतरु का मिथ्यात्व कहें।
 अतः मुमुक्षु उसे प्राप्तकर रक्षा हेतु प्रयत्न करें॥
 विविध योनि से व्याप्त जगत में कर्म सहित यह जीव भ्रमे।
 बहुत काल तक किन्तु सुदृष्टि पा सकता है कहाँ अरे ॥३॥

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है; और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है—ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसलिए मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु अत्यन्त प्रयत्न कर्तव्य है। अरे! संसार में अनन्त भव में सम्यग्दर्शन के बिना जीव कुकर्मों से भटक रहा है, दीर्घ काल व्यतीत होने पर भी प्राणी सम्यग्दर्शन को क्या पा सका?—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महा दुर्लभ है। अतः हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए परम उद्यम कर; और उसको पाकर अत्यन्त यत्न से उसकी रक्षा कर।

कुन्दकुन्दस्वामी ने अष्टप्राभृत के प्रारम्भ में ही कहा है कि 'दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं' अर्थात् जिनवरदेव ने 'दर्शन जिसका मूल है ऐसा धर्म' शिष्यों को उपदेशा है। जैसे बिना मूल के वृक्ष नहीं; वैसे सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं। चौदह गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है और व्रत पाँचवें गुणस्थान में होते हैं, मुनिदशा छठवें-सातवें होती हैं। सम्यग्दर्शन के बिना मात्र शुभराग से अपने को पाँचवाँ-छठवाँ गुणस्थान अथवा धर्म माने या मोक्षमार्ग मान ले तो उसमें मिथ्यात्व का पोषण होता है; मोक्षमार्ग के क्रम की भी उसे खबर नहीं है। मोक्षमार्ग में पहले सम्यग्दर्शन; उसके बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता, उसके बिना श्रावकपना या मुनिपना सच्चा नहीं होता। अरे जीव! धर्म का स्वरूप क्या है और मोक्षमार्ग का क्रम क्या है, उसे पहले जानो। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य तूने अनन्त बार किया तो भी तू संसार में ही भटका और तूने दुःख ही भोगे। अतः समझ ले कि पुण्य कोई मोक्ष का साधन नहीं है। मोक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है।

वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है? रागादि अशुद्धता बिना आत्मा का शुद्ध भूतार्थस्वभाव क्या है, उसकी अनुभूति से ही आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है। जिस समय से सम्यग्दृष्टि होता है, उसी समय से ही मोक्षमार्गी होता है। पश्चात् इसी भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन में आगे बढ़ते-बढ़ते शुद्धि अनुसार पाँचवाँ-सातवाँ इत्यादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। चौथे की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में स्वभाव का विशेष अवलम्बन है, वहाँ अप्रत्याख्यान सम्बन्धी

चारों कषायें भी छूट गयी हैं और वीतरागी आनन्द बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती मेंढक को आत्मा का आनन्द अधिक है, परन्तु यह दशा सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का परम प्रयत्न कर्तव्य है।

अरे, चौरासी के अवतार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। सम्यक्त्वी को रागादि परिणाम आते हुए भी उसकी अन्तर की दृष्टि में से शुद्ध स्वभाव कभी भी खिसकता नहीं है। यहाँ श्रावक के व्रतरूप शुभभाव करने का उपदेश दिया जावेगा, तो भी धर्मी की दृष्टि में राग की मुख्यता नहीं परन्तु मुख्यता शुद्ध स्वभाव की ही है। दृष्टि में यदि स्वभाव की मुख्यता छूटकर राग की मुख्यता हो जाए तो सम्यग्दर्शन भी न रहे। शुद्धस्वभाव में मोक्षदशा को विकसित कर देने की शक्ति है। जिसने इस शुद्ध स्वभाव को प्रतीति में लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने मोक्ष का बीज आत्मा में बो दिया, और चौरासी के अवतार का बीज उसने जला दिया। अतः हे मुमुक्षु! तू ऐसे सम्यक्त्व का परम उद्यम कर।

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ धर्म नहीं है। जिसे भूतार्थस्वभाव का भान नहीं और राग में एकत्वबुद्धि है, उसे धर्म कैसा? वह शुभराग से व्रतादि करे तो भी वह बालव्रत है और उस बालव्रत के राग को धर्म माने तो 'बकरी निकालते ऊँट प्रवेश कर गया' ऐसा होता है, इसलिए थोड़ा अशुभ को छोड़कर शुभ को धर्म मानने गया, वहाँ मिथ्यात्व का मोटा अशुभरूपी ऊँट ही प्रवेश कर गया। अतः श्रावक को सबसे पहले सर्वज्ञ के वचनानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर, परम उद्यमपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिए। जीव की शोभा सम्यक्त्व से ही है।

संयोग चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु अन्तरंग में चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति करके श्रद्धा में पूर्ण आत्मा की अनुकूलता प्रगट की तो वह धन्य है।

आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध मान्यतारूप उल्टी श्रद्धा बड़ा अवगुण है; बाहर की प्रतिकूलता होना अवगुण नहीं है।

अन्तर में चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति करके मोक्षमार्ग प्रगट करना महान सद्गुण है; बाहर में अनुकूलता का ठाट होना कोई गुण नहीं है।

आत्मा की धर्मसम्पदा किससे प्रगट होती है? उसकी जिसे खबर नहीं, वही महान

दरिद्री है और भव-भव में भटककर दुःख को भोगता है। जिस धर्मात्मा को आत्मा की स्वभाव-सम्पदा का भान हुआ है, उनके पास तो इतना बड़ा चैतन्यखजाना भरा है कि उसमें से केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगटेगा। वर्तमान में पुण्य का ठाट भले न हो तो भी वह जीव महान प्रशंसनीय है। अहो! दरिद्र समकित्ती भी केवली का अनुगामी है, वह सर्वज्ञ के मार्ग पर चलनेवाला है। उसने आत्मा में मोक्ष के बीज बो दिये हैं। अल्प काल में उसमें से मोक्ष का वृक्ष फलेगा, पुण्य में से तो संयोग फलेगा और सम्यग्दर्शन में से मोक्ष का मीठा फल पकेगा।

देखो! इस सम्यग्दर्शन की महिमा! समकित्ती अर्थात् परमात्मा का पुत्र। जैन कुल में जन्म हुआ, इससे कोई मान ले कि हम श्रावक हैं, परन्तु भाई! श्रावक अर्थात् परमात्मा का पुत्र। 'परमात्मा का पुत्र' कैसे हो, उसकी यह रीति कही जाती है—

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन।

केलि करें शिवमारग में, जगमाँहिं, जिनेश्वर के लघुनन्दन॥

जहाँ भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वहाँ अन्तर में अपूर्व शान्ति को अनुभवता हुआ जीव मोक्ष के मार्ग में केलि करता है, और वह जगत में जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन है। मुनि बड़ा पुत्र है और समकित्ती छोटा पुत्र है। आदिपुराण में भी जिनसेनस्वामी ने (सर्ग २, श्लोक ५४ में) गौतम गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है, उसी प्रकार यहाँ समकित्ती को जिनेश्वर का लघुनन्दन अर्थात् भगवान का छोटा पुत्र कहा है। अहा! जिसे जब सम्यग्दर्शन हुआ, वहीं वह केवली भगवान का पुत्र हुआ, भगवान का उत्तराधिकारी हुआ, सर्वज्ञपद का साधक हुआ। किसी को पुण्ययोग से पिता की विशाल सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिले परन्तु वह तो क्षण में नष्ट हो जाती है, और यह समकित्ती तो केवलज्ञानी-सर्वज्ञ पिता की अक्षयनिधि का उत्तराधिकारी हुआ है, वह निधि कभी समाप्त नहीं होती, सादि-अनन्त रहती है। सम्यग्दर्शन से ऐसी दशा प्रगट करे, वह श्रावक कहलाता है। अतः श्रावकधर्म के उपासक को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए।

जिस प्रकार आम्र का बीज आम की गुठली होती है; कोई कड़वी निम्बोली के बीज में से मधुर आम नहीं पकते; उसी प्रकार मोक्षरूपी जो मीठा आम, उसका बीज तो

सम्यग्दर्शन है; पुण्यादि विकार, मोक्ष का बीज नहीं है। भाई! तेरे मोक्ष का बीज तेरे स्वभाव की जाति का होता है परन्तु उससे विरुद्ध नहीं होता। मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनन्दरूप वीतरागदशा—तो उसका बीज राग कैसे हो? रागमिश्रित विचारों से भी पार होकर निर्विकल्प आनन्द के अनुभवसहित आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का मूल है।

मोक्ष का बीज सम्यग्दर्शन और उस सम्यग्दर्शन का बीज आत्मा का भूतार्थस्वभाव—‘भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइड्ढी हवदि जीवो’ (समयसार, गाथा-११) भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा परन्तु यदि कोई उस सम्यग्दर्शन का स्वरूप अन्य प्रकार माने तो उसे भी मार्ग की खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन अन्य के आश्रय नहीं; आत्मा के स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न:—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कहा है न?

उत्तर:—यह सत्य ही है, परन्तु उसमें बीजरूप सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान अथवा चारित्र नहीं होता। पहले सम्यग्दर्शन होता है, पीछे ही ज्ञान-चारित्र पूर्ण होने पर मोक्ष होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रस्वामी ने भी कहा कि—

एवं सम्यग्दर्शनबोधचारित्रत्रयात्मको नित्यं ।

तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥२०॥

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलायत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्षमार्ग है, उसका गृहस्थों को सदा यथाशक्ति सेवन करना चाहिए। उन तीन में पहले सम्यक्त्व है। वह पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अंगीकार करने योग्य है, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान या चारित्र मोक्ष के साधक नहीं होते। और सम्यक्त्वसहित यथाशक्ति मोक्षमार्ग का सेवन गृहस्थ को भी होता है—ऐसा बतलाया।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो राग-द्वेष हैं, वे अत्यन्त अल्प हैं और उनमें धर्मी को एकत्वबुद्धि नहीं है। मिथ्यादृष्टि को राग-द्वेष में एकत्वबुद्धि है अर्थात् उसको अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष अनन्त संसार का कारण है। इस प्रकार मिथ्यात्व संसार का बीज है और सम्यग्दर्शन

होने पर उसका छेद होकर मोक्ष का बीजारोपण होता है। सम्यग्दर्शनरूपी 'बीज' उत्पन्न हुआ, वह बढ़कर केवलज्ञानरूपी पूर्णिमा होकर ही रहेगा। सम्यक्त्व कहता है कि 'मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करनेवाले की इच्छा न हो तो भी मुझे उसे जबरन मोक्ष ले जाना पड़ता है;—इसलिए मुझे ग्रहण करने के पहले यह विचार कर लो कि मोक्ष जाने की इच्छा पलट दूँ तो भी वह काम आने की नहीं है। मुझे ग्रहण करने के पश्चात् तो मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए, वह मेरी प्रतिज्ञा है।'—ऐसा कहकर श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सम्यक्त्व की महिमा बतलायी है और उसे मोक्ष का मूल कहा है। सम्यक्त्व अंगीकार करे और मोक्ष न हो, ऐसा नहीं बनता; और सम्यक्त्व बिना मोक्ष हो जाए—ऐसा भी नहीं बनता। इसलिए परम यत्न से सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपदेश है।

अहा! सम्यग्दर्शन होते ही चैतन्य के भण्डार की तिजोरी खुल गयी। अब उसमें से ज्ञान-आनन्द का माल जितना चाहो, उतना बाहर निकालो। पहले मिथ्यात्व के ताले में चैतन्य का खजाना बन्द था; अब सम्यग्दर्शनरूपी चाबी से खोलते ही चैतन्य का अक्षय भण्डार प्रगट हुआ; वह सादि-अनन्त काल पर्यन्त इसमें से केवलज्ञान और पूर्णानन्द लिया ही करे.. लिया ही करे.. तो भी वह भण्डार समाप्त हो, ऐसा नहीं है। किसी प्रकार वह कम हो जाए, ऐसा भी नहीं है। अहा! सर्वज्ञ प्रभु और वीतरागी सन्तों ने ऐसा चैतन्यभण्डार खोलकर बतलाया है, तो उसे कौन न ले? कौन अनुभव न करे?

सम्यग्दर्शन बिना चाहे जितना करे तो भी चैतन्य का भण्डार नहीं खुलता। मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता, श्रावकपना भी नहीं होता। जो जीव सच्चे देव-गुरु-धर्म का विरोध करता है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का आदर करता है, उसे तो व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता, वह तो मिथ्यात्व के तीव्र पाप में डूबा हुआ है। ऐसे जीव को यदि पूर्व का पुण्य हो तो वह भी घट जाता है। ऐसे जीव को तो महा पापी कहकर पहली ही गाथा में निषेध किया है। उसमें तो धर्म की भी योग्यता नहीं है। यहाँ तो सच्चा श्रावक धर्मात्मा होने के लिए सबसे पहले सर्वज्ञदेव की पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने का उपदेश है।

कोई कहे कि 'हमने दिगम्बर धर्म के सम्प्रदाय में जन्म धारण किया है, इसलिए सम्यग्दर्शन तो हमको होता ही है।'—तो यह बात सच्ची नहीं है। जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा,

वैसा अपने चैतन्यस्वभाव को पहिचाने बिना कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता। दिगम्बर धर्म तो सच्चा है; परन्तु तू स्वयं समझे तब न! समझे बिना इस सत्य का तुझे क्या लाभ? तेरे भगवान और गुरु तो सच्चे हैं, परन्तु उनका स्वरूप पहिचाने तभी तू सच्चा होगा। पहिचान बिना तुझे क्या लाभ? (समझे बिना उपकार क्या?)

धर्म की भूमिका सम्यग्दर्शन है और मिथ्यात्व बड़ा पाप है। मिथ्यादृष्टि मन्द कषाय करके उसे मोक्ष का कारण माने तो वहाँ उसे अल्प पुण्य के साथ मिथ्यात्व का बड़ा पाप बँधता है। इसलिए मिथ्यात्व को भगवान ने भव का बीज कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करे तो भी वह उसे मोक्ष का कारण नहीं होता; समकृती को पुण्य-पाप होते हुए भी वे उसे संसार का बीज नहीं हैं। समकृती को सम्यक्त्व में मोक्ष की फसल आवेगी और मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व में से संसार का फल आवेगा; इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और उसकी रक्षा का परम उद्यम करना चाहिए।

जो सम्यग्दर्शन का उद्यम नहीं करते और पुण्य को मोक्ष का साधन समझकर उसकी रुचि में अटक जाते हैं, उनसे कहते हैं कि अरे मूढ़! तुझे भगवान की भक्ति करना नहीं आती, भगवान तेरी भक्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि तेरे ज्ञान में तूने भगवान को स्वीकार नहीं किया। अपने सर्वज्ञस्वभाव को जिसने पहचाना, उसने भगवान को स्वीकार किया, और भगवान ने उसे मोक्षमार्ग स्वीकार किया, वह भगवान का सच्चा भक्त हुआ। दुनिया चाहे उसे न माने या पागल कहे परन्तु भगवान ने और सन्तों ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है; भगवान के घर में वह प्रथम है। भगवान के ज्ञान में जिसकी महा-पात्रता भासित हुई, उसके समान बड़ा अभिनन्दन (सन्मान) क्या? वह तो तीन लोक में सबसे महान सर्वज्ञता को प्राप्त होगा। और दुनिया भले पूजती हो, परन्तु भगवान ने जिसे धर्म के लिए अयोग्य कहा तो उसके समान अपमान अन्य क्या? अहा, भगवान की वाणी में जिस जीव के लिए ऐसा आया कि यह जीव तीर्थंकर होगा, यह जीव गणधर होगा—तो उसके समान महा भाग्य अन्य क्या? सर्वज्ञ के मार्ग में सम्यग्दृष्टि का बड़ा सम्मान है और मिथ्यादृष्टिपना ही बड़ा अपमान है।

इस घोर दुःख से भरे हुए संसार में भटकते जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होना बहुत

दुर्लभ है; परन्तु वह धर्म का मूल है—ऐसा समझकर आत्मार्थी को पहले ही उसका उद्यम करना चाहिए। यदि मुनिदशा हो सके तो करना, और वह न हो सके तो श्रावकधर्म का पालन करना—ऐसा कहते हैं, परन्तु उन दोनों में सम्यग्दर्शन तो पहले होना चाहिए,—यह मूलभूत रखकर पीछे मुनिधर्म या श्रावकधर्म की बात है।

प्रश्न:—सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ?

उत्तर:—‘भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मइट्ठी हवदि जीवो’ अर्थात् संयोग और विकार रहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव कैसा है, उसे लक्ष्य में लेकर अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है; अन्य किसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। संयोग या बन्धभाव जितना ही आत्मा का अनुभव करना और ज्ञानमय अबन्धस्वभावी आत्मा को भूल जाना, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वसहित की सब क्रियाएँ एक इकाई बिना ही शून्यों की तरह धर्म के लिए व्यर्थ हैं। छहढाला में पण्डित दौलतरामजी ने भी कहा है कि—

**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।**

गणधरादि सन्तों ने सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहा है। यदि कोई बीज के बिना वृक्ष उगाना चाहे तो कैसे उगे?—उसे लोग मूर्ख कहते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना जो धर्मरूपी वृक्ष लगाना चाहते हैं, वे परमार्थ से मूर्ख हैं। जिन्हें अन्तर में राग के साथ एकताबुद्धि अत्यन्त टूट गयी है और बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह छूट गया है, ऐसे वीतरागी सन्त महात्मा का यह कथन है। जीव को अनन्त काल में अन्य सब कुछ मिला है परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। महान देव और राजा-महाराजा अनन्त बार हुआ, उसी प्रकार घोर नरक-तिर्यच के दुःख भी अनन्त बार भोगे; परन्तु मैं स्वयं ज्ञानगुण का भण्डार और आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसी आत्मप्रतीति या अनुभव उसने पूर्व में कभी नहीं किया। सन्त करुणापूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तुझे ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्रतीति का अवसर पुनः—पुनः कहाँ मिलेगा? इसलिए ऐसा अवसर प्राप्त करके उसका उद्यम कर; जिससे भवदुःख से तेरा छुटकारा हो।

इस सम्यग्दर्शन का साधन क्या है? तो कहते हैं कि भाई! तेरे सम्यग्दर्शन का

साधन तो तेरे में होता है या तेरे से बाहर होता है ? आत्मा स्वयं सत्स्वभावी सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा है, उसमें अन्तर्मुख होने से ही परमात्मा होता है; बाहर के साधन से नहीं। अन्तर में देखनेवाला अन्तरात्मा है और बाहर से माननेवाला बहिरात्मा है।

जैसे आम की गुठली में आम और बबूल में से बबूल फलता है; उसी प्रकार आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन में से तो मोक्ष के आम फलते हैं; और मिथ्यात्वरूप बबूल में से बबूल जैसी संसार की चार गति फूटती हैं। शुद्ध स्वभाव में से संसरण करके (बाहर निकलके) विकार भाव में परिणमित होना संसार है। शुद्ध स्वभाव के आश्रय से विकार का अभाव और पूर्णानन्द की प्राप्ति मोक्ष है। इस प्रकार आत्मा का संसार और मोक्ष सभी स्वयं में ही समाविष्ट है, उसका कारण भी स्वयं में ही है। बाहर की अन्य वस्तु कोई आत्मा के संसार-मोक्ष का कारण नहीं है।

जो आत्मा का पूर्ण अस्तित्व माने, संसार और मोक्ष को माने, चार गति माने, चारों गतियों में दुःख लगे और उससे छूटना चाहे—ऐसे आस्तिक जिज्ञासु जीव की यह बात है। जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ अनादि-अनन्त हैं। आत्मा अभी तक कहाँ रहा ? कि आत्मभान के बिना संसार की भिन्न-भिन्न गतियों में भिन्न शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अब उनसे कैसा छूटा जाए और मोक्ष कैसे प्राप्त हो, उसकी यह बात है।

अरे जीव ! अज्ञान से इस संसार में तूने जो दुःख भोगे, उनकी क्या बात ! उसमें सत् समागम सत्य समझने का उत्तम अवसर आया है, ऐसे समय जो आत्मा की दरकार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करे तो समुद्र में डाल दिये रत्न की तरह इस भवसमुद्र में तेरा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा; बारम्बार ऐसा उत्तम अवसर हाथ नहीं आता; अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महा दुर्लभ जानकर उसका परम उद्यम कर।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावक के व्रत का प्रकाशन करना है; परन्तु उसके पूर्व यह बताया है कि व्रत की भूमिका सम्यक्त्व है; सम्यग्दृष्टि को राग करने की बुद्धि नहीं, राग द्वारा मोक्षमार्ग सधेगा, ऐसा वह नहीं मानता; उसे भूमिका अनुसार राग के त्यागरूप व्रत होते हैं। व्रत में जो शुभराग रहा, उसे वह श्रद्धा में आदरणीय नहीं मानता। चैतन्यस्वरूप में थोड़ी एकाग्रता होते ही अनन्तानुबन्धी कषाय; पश्चात् अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायों

अनादि काल से इस संसार में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्यपना प्राप्त होना कठिन है और उसमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अति दुर्लभ है। इस भव में भ्रमण करते-करते दीर्घकाल में ऐसा मनुष्यपना और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उत्तम पुरुषों को तो मोक्षदायक ऐसा तप करना योग्य है; अर्थात् मुनिदशा प्रगट करना योग्य है; और यदि लोक के निषेध से, मोह की तीव्रता से और निज की अशक्ति से मुनिपना नहीं लिया जा सके तो उसे गृहस्थ के योग्य देवपूजा आदि षट्कर्म तथा व्रतों का पालन करना चाहिए।

मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर आत्महित के लिए तू मुनिधर्म अंगीकार कर, और यदि तुझसे इतना न हो सके तो श्रावकधर्म का तो अवश्य पालन कर। परंतु दोनों सम्यग्दर्शनसहित होने की बात है। मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनों के मूल में सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञ की पहिचान सहित आगे बढ़ने की बात है। जिसे सम्यग्दर्शन न हो सके तो प्रथम उसका उद्यम करना चाहिए।—यह बात तो प्रथम तीन गाथाओं में बता आये हैं; उसके पश्चात् आगे की भूमिका की यह बात है।

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनिपने की ही होती है; अहो! कब चैतन्य में लीन होकर सर्व संग का परित्याग करके मुनिमार्ग में विचरण करूँ? शुद्धरत्नत्रयरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग, उसरूप कब परिणमित होऊँ?

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे!
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रथ जो,
सर्वसंबंधनु बंधन तीक्षण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो ॥

मुनि होकर तीर्थकर और अरिहंत चैतन्य के जिस मार्ग पर विचरे उस मार्ग पर विचरण करूँ, ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा! इस प्रकार आत्मा के भानपूर्वक धर्मी जीव भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निजशक्ति की मन्दता से और निमित्तरूप से चारित्रमोह की तीव्रता से तथा कुटुम्बीजनों आदि के आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण न कर सके तो वह धर्मात्मा गृहस्थपने में रहकर श्रावक के धर्म का पालन करे—ऐसा यहाँ बतलाया है।

श्री पद्मनन्दीस्वामी ने श्रावक के छह कर्तव्य बतलाये हैं—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥७॥

(पद्मनन्दी-उपासक संस्कार)

भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओं की उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान—यह छह कार्य गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य हैं। मुनिपना न हो सके तो दृष्टि की शुद्धतापूर्वक इन छह कर्तव्यों द्वारा श्रावकधर्म का पालन तो अवश्य करना चाहिए।

भाई! ऐसा अमूल्य मनुष्य-जीवन प्राप्त कर यों ही चला जावे, उसमें तू सर्वज्ञदेव की पहिचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्र स्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे और कषायों की मन्दता न करे तो इस जीवन में तूने क्या किया? आत्मा को भूलकर संसार में भटकते अनन्त काल बीत गया; उसमें महा मूल्यवान् और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग मिला, तो अब परमात्मा के समान जो तेरा स्वभाव, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर। यह शरीर और संयोग तो क्षणभंगुर हैं, उनमें तो कहीं सुख की छाया भी नहीं है। सुखियों में पूर्ण सुखी तो सर्वज्ञ परमात्मा हैं, दूसरे सुखी मुनिवर हैं—जो आनन्द की ऊर्मिपूर्वक सर्वज्ञपद को साध रहे हैं और तीसरे सुखी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा हैं—जिन्होंने चैतन्य के परम आनन्दस्वभाव को प्रतीति में लिया और उसका स्वाद चखा है। ऐसे सुख का अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनिधर्म या श्रावकधर्म का पालन करता है, उसका यह उपदेश है।

संसार-परिभ्रमण में जीव को प्रथम तो निगोदादि एकेन्द्रिय में से निकलकर त्रसपना पाना बहुत दुर्लभ है, त्रसपना में भी पंचेन्द्रियपना और मनुष्यपना प्राप्त करना अति दुर्लभ है; दुर्लभ होते हुए भी जीव अनन्त बार उसे प्राप्त कर चुका है परन्तु सम्यग्दर्शन उसने कभी प्राप्त नहीं किया। इसलिए मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य जीव! ऐसे दुर्लभ मनुष्यपने में तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर; और इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का पालन अवश्य कर।

देखो, यहाँ यह भी कहा कि जो मुनिपना न हो सकें तो श्रावकधर्म पालना, परन्तु

मुनिपने का स्वरूप अन्यथा नहीं मानना। शुद्धोपयोग के बिना मात्र राग को या वस्त्र के त्याग को मुनिपना मान ले तो वह श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती अर्थात् उसे तो श्रावकधर्म भी नहीं होता। चाहे कदाचित् मुनिपना न ले सके परन्तु अन्तरंग में उस स्वरूप की प्रतीति बराबर प्रज्वलित रखे तो सम्यग्दर्शन टिका रहेगा; इसलिए तुझसे विशेष न हो सके तो जितना हो सके, उतना ही करना। श्रद्धा सच्ची होगी तो उसके बल से मोक्षमार्ग टिका रहेगा। श्रद्धा में ही गड़बड़ी करेगा तो मोक्षमार्ग भ्रष्ट हो जाएगा।

सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन्होंने शुद्धात्मा को प्रतीति में लिया; उसमें उग्र लीनता से शुद्धोपयोग प्रगट हो और प्रचुर आनन्द का संवेदन अंतर में हो रहा हो, बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो—ऐसी मुनिदशा है। अहो! इसमें तो बहुत वीतरागता है, यह तो परमेष्ठी पद है। कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं ऐसी मुनिदशा में थे, उन्होंने प्रवचनसार के मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी भगवन्तों को वन्दन किया है, उन्होंने कहा है कि 'जिन्होंने परम शुद्ध उपयोग भूमिका को प्राप्त किया है, ऐसे साधुओं को प्रणाम करता हूँ।'

शुद्धोपयोग का नाम चारित्रदशा है, मोह और क्षोभ बिना जो आत्मपरिणाम वह चारित्रधर्म है, वही मुनिपना है। मुनिमार्ग क्या है? उसकी जगत को खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य जिस पद को नमस्कार करें—वह मुनिपद कैसा? यहाँ 'णमो लोए सव्व साहूणम्' ऐसा कहकर पंच परमेष्ठी पद में उन्हें नमस्कार किया जाता है—इस साधुपद की महिमा की क्या बात!! यह तो मोक्ष का साक्षात् कारण है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! मोक्ष का साक्षात् कारण शुद्ध चारित्र को तू अंगीकार कर। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ऐसी चारित्रदशा प्रगट कर। चारित्रदशा बिना मोक्ष नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान सहित ऐसे तीर्थकर भी जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करते हैं, तभी मुनिपना और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ऐसी चारित्रदशा प्रगट करना ही उत्तम मार्ग है। परन्तु लोक निषेध से और स्वयं के परिणाम में उस प्रकार की शिथिलता से यदि चारित्रदशा न ली जा सके तो श्रावक के योग्य व्रतादि करे। दिगम्बर मुनिदशा पालने में तो बहुत वीतरागता है; परिणामों की शक्ति न देखे और ज्यों-ज्यों मुनिपना ले ले और पीछे पालन न कर सके तो उल्टे मुनिमार्ग की निन्दा होती

है, इसलिए अपने शुद्ध परिणाम की शक्ति देखकर मुनिपना लेना। शक्ति की मन्दता हो तो मुनिपने की भावनापूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करना। परन्तु उसके मूल में सम्यग्दर्शन तो पहले होता ही है, उसमें कमजोरी नहीं चलती। सम्यक्त्व में थोड़ा या अधिक ऐसा भेद पड़ता है।

भूतार्थ के आश्रित श्रावक को दो कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है और मुनि को तीन कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है; जितनी शुद्धता, उतना निश्चयधर्म है; स्वरूपाचरणरूप स्वसमय है और उतना मोक्षमार्ग है; और उस भूमिका में देव-पूजा आदि का या पंच महाव्रतादि का जो शुभराग है, वह व्यवहारधर्म है; वह मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु पुण्यास्रव का कारण है।—इस प्रकार शुद्धता और राग के मध्य का भेद पहचानना चाहिए। सम्यक्त्वरूप भावशुद्धि के बिना मात्र शुभ या अशुभभाव तो अनादि से सब जीवों में हुआ ही करते हैं; उस अकेले शुभ को वास्तविक व्यवहार नहीं कहते। निश्चय बिना व्यवहार कैसा? निश्चयपूर्वक जो शुभरागरूप व्यवहार है, वह भी कोई वास्तविक धर्म नहीं है; तो फिर निश्चय बिना अकेले शुभराग की क्या बात?—वह तो वास्तव में व्यवहारधर्म भी नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन होने पर शुद्धता प्रगट होती है और धर्म प्रगट होता है। धर्मों की राग में एकत्वबुद्धि न होते हुए भी देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय आदि सम्बन्धी शुभराग उसे होता है; वह उस राग का कर्ता है—ऐसा भी व्यवहार में कहा जाता है और उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है; निश्चयधर्म तो अन्तरंग में भूतार्थस्वभाव के आश्रय से शुद्धि प्रगट हुई वही है। अरे! वीतरागमार्ग की अगम्य लीला राग के द्वारा ज्ञान में नहीं आती। क्या राग में स्थित रहकर तुझे वीतरागमार्ग की साधना करना है? राग द्वारा वीतरागमार्ग साधन कभी नहीं हो सकता। राग द्वारा धर्म माने, ऐसे जीव की यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ तो जिसने भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उससे आगे बढ़ते हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार होता है, उसकी चर्चा है।

सम्यग्दर्शन हुआ, उसी समय स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो आया है, तत्पश्चात् मुनिपने में तो उस अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। अहा! मुनियों को तो शुद्धात्मा के स्वसंवेदन में आनन्द की प्रचुरता है। समयसार की पाँचवीं गाथा में

अपने निजवैभव का वर्णन करते श्री आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि 'अनवरत झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रावाला जो तीव्र संवेदन, उसरूप स्वसंवेदन से हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। स्वयं को निःशंक अनुभव में आता है कि ऐसा आत्मवैभव प्रगट हुआ है।

देखो, यह मुनिदशा! मुनिपना, यह संवरतत्त्व की उत्कृष्टता है। जिसे ऐसी मुनिदशा की पहचान नहीं, उसे संवरतत्त्व की पहचान नहीं; दिगम्बरपना हुआ या पंच महाव्रत का शुभराग हुआ—उसे ही मुनिपना मान लेना, वह कोई सच्चा नहीं है; और वस्त्रसहित दशा में मुनिपना माने, उसे तो गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा नहीं; मुनिदशा के योग्य परम संवर की भूमिका में तीव्र राग के किस प्रकार के निमित्त छूट जाते हैं, उसकी भी उसे खबर नहीं; अर्थात् उस भूमिका की शुद्धता को भी उसने नहीं जानी है। वस्त्ररहित हुआ हो, पंच महाव्रत दोषरहित पालता हो, परन्तु यदि अन्तरंग में तीन कषाय के अभावरूप शुद्धोपयोग नहीं तो उसे भी मुनिपना नहीं है।

मुनिमार्ग तो अलौकिक है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सीमन्धर परमात्मा साक्षात् तीर्थकररूप में विराज रहे हैं, वे ऐसा ही मार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे अनन्त तीर्थकर हुए, लाखों सर्वज्ञ भगवान वर्तमान में उस क्षेत्र में विचर रहे हैं और भविष्य में अनन्त होंगे, उन्होंने वाणी में मुनिपने का एक ही मार्ग बतलाया है। यहाँ कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मुनिपना अंगीकार करने योग्य है; जो उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्म को पालना।

श्रावक को क्या करना चाहिए?

श्रावक प्रथम तो हमेशा देव पूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव; उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज-रोज दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञ की पहचान की बात कही थी। स्वयं ने सर्वज्ञ को पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है, वहाँ निमित्तरूप में सर्वज्ञता को प्राप्त अरहन्त भगवान के पूजन-बहुमान का उत्साह धर्मी को आता है। जिनमन्दिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंच कल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्यों का उल्लास श्रावक को आता है—ऐसी उसकी भूमिका है, इसलिए उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है। यदि उसका निषेध करे तो मिथ्यात्व

है और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता—
ऐसा जानो ।

सच्चे श्रावक को तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्मा का श्रद्धानरूप सम्यक्त्व वर्तता है और उसके आधार से जितनी शुद्धता प्रगट हुई, उसे ही धर्म जानता है । ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्यों में प्रवर्तता है । समन्तभद्रस्वामी, मानतुंगस्वामी आदि महान मुनियों ने भी सर्वज्ञदेव की नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है; एक भवावतारी इन्द्र भी रोम-रोम उल्लसित हो जाए, ऐसी अद्भुत भक्ति करता है ।

हे सर्वज्ञ परमात्मा ! इस पंचम काल में हमें आपके जैसी परमात्मदशा का तो आत्मा में विरह है और इस भरतक्षेत्र में आपके साक्षात् दर्शन का भी विरह है । 'नाथ ! आपके दर्शन बिना कैसे रह सकूँ'—इस प्रकार भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे ।—'जिन प्रतिमा जिन सारखी' क्योंकि धर्मी को सर्वज्ञ का स्वरूप अपने ज्ञान में भास गया है, इसलिए जिनबिम्ब को देखते ही उसे उनका स्मरण हो जाता है ।

नियमसार टीका में श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते हैं कि जिसे भवभयरहित ऐसे भगवान के प्रति भक्ति नहीं, वह जीव भवसमुद्र के बीच मगर के मुँह में पड़ा हुआ है । जिस प्रकार संसार के रागी प्राणी को युवा स्त्री का विरह खटकता है और उसके समाचार मिलने पर प्रसन्न होता है; उसी प्रकार धर्म के प्रेमी जीव को सर्वज्ञ परमात्मा का विरह खटकता है और उनकी प्रतिमा का दर्शन करते या सन्तों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्र का श्रवण करते) उसे परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है । 'अहो मेरे नाथ ! तन से-मन से-धन से-सर्वस्वरूप से आपके लिए क्या-क्या करूँ !' पद्मनन्दीस्वामी ने श्रावक के छह कर्तव्य बताये हैं, वे 'उपासक संस्कार' में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है ! मुनि इससे ज्यादा क्या कहें ? इसलिए भव्य जीवों को प्रातः उठकर सर्व प्रथम देव-गुरु के दर्शन तथा भक्ति से वन्दन और शास्त्र-श्रवण कर्तव्य है—अन्य कार्य पीछे करना चाहिए । (गाथा १५-१६-१७)

प्रभो! आपको पहचाने बिना मेरा अनन्त काल निष्फल गया, परन्तु अब मैंने आपको पहचान लिया है, मैंने आपके प्रसाद से आपके जैसा मेरा आत्मा पहचाना है, आपकी कृपा से मुझे मोक्षमार्ग मिला और मेरा जन्म-मरण का अन्त आ गया।—ऐसा धर्मी जीव को देव-गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आता है। श्रावक को सम्यग्दर्शन के साथ ऐसे भाव होते हैं। इसमें जितना राग है, उतना पुण्य है; राग बिना जितनी शुद्धि है, उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजा की तरह हमेशा गुरु की उपासना तथा हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय करे। समस्त तत्त्वों का निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे, ऐसा ज्ञाननेत्र गुरुओं के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। जो जीव निर्ग्रन्थ गुरुओं को नहीं मानता, उनकी पहचान और उपासना नहीं करता, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अन्धकार है। इसी प्रकार वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत्शास्त्रों का जो अभ्यास नहीं करता, उसको नेत्र होते हुए भी विद्वान लोग अन्धा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्र स्वाध्याय न करे—उसके नेत्र किस काम के? श्रीगुरु के पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता, उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं—ऐसा कहा है। (उपासक संस्कार, गाथा १८ से २१)

इस प्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्र स्वाध्याय, ये श्रावक के हमेशा के कर्तव्य हैं। जिस घर में देव-गुरु-शास्त्र की उपासना नहीं होती, वह तो घर नहीं जेलखाना है। जिस प्रकार भक्तिवान पुत्र को अपनी माता के प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है। अहो, मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं! तेरे लिए क्या-क्या करूँ!! उसी प्रकार धर्मात्मा श्रावक को तथा जिज्ञासु जीव को भगवान के प्रति, गुरु के प्रति और जिनवाणी माता के प्रति हृदय से प्रशस्त भक्ति का उद्रेक आता है; अहो मेरे स्वामी! आपके लिए मैं क्या-क्या करूँ! जिस प्रकार आपकी सेवा करूँ!! ऐसा भाव भक्त को आये बिना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है, उतनी वह जानता है। केवल वह उस राग में धर्म मानकर नहीं रुक जाता। धर्म तो अन्तर के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से है—उसने स्वभाव को प्रतीति में लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहित मुनिधर्म न पाल सके तो श्रावक धर्म का पालन करे, उसका यह वर्णन है।

श्रावकधर्म में छह कर्तव्यों को मुख्य बताया है। एक जिनपूजा, दूसरा गुरुपूजा और

तीसरा शास्त्रस्वाध्याय—इन तीन की चर्चा की। उसके बाद अपनी भूमिका के योग्य संयम, तप और दान श्रावक हमेशा करे। विषयों से सुखबुद्धि तो पहले ही छूट गयी है, तत्पश्चात् विषय-कषायों में से परिणति मोड़कर अन्तर में प्रतिदिन अभ्यास करे। मुनिराज को तथा साधर्मी धर्मात्मा को आहारदान, शास्त्रदान इत्यादि करने की भावना भी प्रतिदिन करे। भरत चक्रवर्ती जैसे भी श्रावक अवस्था में भोजन के समय प्रतिदिन मुनिवरों को याद करते हैं कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहारदान देने के पश्चात् मैं भोजन करूँ। मुनिराज के पधारने पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक आहारदान कराते हैं। दान बिना गृहस्थ अवस्था को निष्फल कहा है। जो पुरुष मुनि इत्यादि को भक्तिपूर्वक चतुर्विधदान (आहार-शास्त्र-औषध और अभय ये चार प्रकार के दान) नहीं देता उसका घर तो वास्तव में घर नहीं परन्तु उसको बाँधने के लिये बन्धपाश है। ऐसा दान सम्बन्धी बहुत उपदेश पद्मनन्दीस्वामी ने दिया है। (देखिये, उपासक-संस्कार अधिकार, गाथा ३१ से ३६) श्रावक की भूमिका में चैतन्य की दृष्टिसहित इस प्रकार छह कार्यों के भाव सहज होते हैं।

‘श्रावकधर्म-प्रकाश’ का मतलब है गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वपूर्वक धर्म का प्रकाश होकर वृद्धि हो, उसका यह वर्णन है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन की दुर्लभता बतलायी। ऐसे तो सम्यग्दर्शन सदाकाल दुर्लभ है, उसमें भी आजकल तो उसकी सच्ची बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ हो गयी है। और सुनने को मिले तो भी बहुत से जीवों को उसकी खबर नहीं पड़ती। यहाँ कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन पाकर, उत्तम पुरुष मुनिधर्म को अंगीकार करे, वैराग्यरूप में रमणता बढ़ावे।

प्रश्न—शास्त्र में तो कह है कि पहले मुनिदशा का उपदेश दो। आप तो पहले सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर पीछे मुनिदशा की बात करते हो? सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना होता ही नहीं—ऐसी बात करते हो?

उत्तर—यह बराबर है; शास्त्र में पहले मुनिपना का उपदेश देने की जो बात कही है, वह तो श्रावकपना और मुनिपना—इन दो की अपेक्षा से पहले मुनिपने की बात कही है; परन्तु कोई सम्यग्दर्शन के पहले मुनिपना ले लेने की बात नहीं की। सम्यग्दर्शन बिना तो मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म होता ही नहीं। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन की मुख्य बात

करके मुनिधर्म और श्रावकधर्म की बात है। (शास्त्र में आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों में देशसंयम की अपेक्षा सीधा मुनिपना लेनेवाले जीव बहुत होते हैं।)

भाई! ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके सम्यक्त्वसहित यदि मुनिदशा हो तो अवश्य करना, वह तो उत्तम है और यदि इतना तेरी शक्ति की हीनता से न हो सके, तो श्रावकधर्म के पालन द्वारा मनुष्यभव की सार्थकता करना। ऐसा मनुष्यभव बार-बार मिलना दुर्लभ है। यह शरीर क्षण में नष्ट होकर उसके रजकण हवा में उड़ जायेंगे।—

**रजकण तेरे भटकेंगे ज्यों भटकती रेत,
फिर नरभव पामीश क्यो ? चेत चेत नर चेत!**

जिस प्रकार एक वृक्ष बिल्कुल हरा हो और जलकर भस्म हो जाए और उसकी राख हवा में चारों ओर उड़ जाये; पीछे फिर से वही परमाणु, उसी वृक्षरूप हो जाएँ अर्थात् एकत्रित होकर फिर से उसी स्थान पर वैसे ही वृक्षरूप परिणमित हो—यह कितना दुर्लभ है ? मनुष्यपना तो उसकी अपेक्षा और भी दुर्लभ है।—इसलिए तू इसे धर्म सेवन के बिना विषय-कषायों में ही नष्ट न कर।

जिनदर्शन आदि छह कार्य श्रावक के प्रतिदिन होते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन सहित श्रावक की मुख्य बात है; सम्यग्दर्शन के पूर्व जिज्ञासु भूमिका में भी गृहस्थों द्वारा जिनदर्शन-पूजा-स्वाध्याय आदि कार्य होते हैं। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को नहीं पहिचाने, उनकी उपासना नहीं करे, वह तो व्यवहार से भी श्रावक नहीं कहलाता।

प्रश्न:—देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भाव तो पराश्रित भाव है न ?

उत्तर:—भेदज्ञानी को तो उस समय स्वयं के धर्म प्रेम का पोषण होता है। संसार सम्बन्धी स्त्री-पुत्र-शरीर-व्यापार आदि की ओर के भाव में तो पाप का पोषण है; उसकी दिशा बदलकर-धर्म के निमित्त की ओर के भाव आवें, उसमें तो राग की मन्दता होती है तथा वहाँ सच्ची पहिचान का—स्वाश्रय का अवकाश है। भाई! पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म जिज्ञासु को पाप की ओर का लगाव छूटकर धर्म के निमित्तरूप देव-गुरु-धर्म की ओर लगाव होता है। इसका विवेक नहीं करे और स्वच्छन्द पाप में प्रवर्ते या कुदेवादि को माने, उसे तो धर्मी होने की पात्रता भी नहीं है।

सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उनके साधक गुरु कैसे होते हैं, उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं, शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव कैसा बतलाया है,—उनके अभ्यास का रस होना चाहिए। सत्शास्त्रों का स्वाध्याय ज्ञान की निर्मलता के कारण है। लौकिक उपन्यास और अखबार पढ़े, उसमें तो पापभाव है। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे दिन-प्रतिदिन नये-नये वीतरागी श्रुत के स्वाध्याय का उत्साह होता है। यह निर्णय में तो है कि ज्ञान मेरे स्वभाव में से ही आता है, परन्तु जब तक इस स्वभाव में एकाग्र नहीं रहा जाता, तब तक वह शास्त्र स्वाध्याय द्वारा बारम्बार उसका घोलन करता है। सर्वार्थसिद्धि के देव तेतीस सागरोपम तक तत्त्वचर्चा करते हैं। इन सब देवों को आत्मा का भान है, एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं, अन्य कोई काम (व्यापर-धन्धा या रसोई-पानी का काम) उनको नहीं है। तेतीस सागरोपम अर्थात् असंख्यात वर्षों तक चर्चा करते-करते भी जिसका रहस्य पूर्ण नहीं होता, ऐसा गम्भीर श्रुतज्ञान है, धर्मी को उनके अभ्यास का बड़ा प्रेम होता है; ज्ञान की रुचि होती है। चौबीसों घण्टे केवल विकथा में या व्यवहार-धन्धे के परिणाम में लगा रहे और ज्ञान के अभ्यास में जरा भी रस न ले—वह तो पाप में पड़ा हुआ है। धर्मी श्रावक को तो ज्ञान का कितना रस होता है।

प्रश्न:—परन्तु शास्त्र-अभ्यास में हमारी बुद्धि न चले तो ?

उत्तर:—यह बहाना खोटा है। कदाचित् न्याय, व्याकरण या गणित जैसे विषय में बुद्धि न चले, परन्तु यदि आत्मा को समझने का प्रेम हो तो शास्त्र में आत्मा का स्वरूप क्या कहा है ? उससे धर्म किस प्रकार हो—यह सब समझ में कैसे न आवे ? न समझे तो गुरु द्वारा या साधर्मी को पूछकर समझना चाहिये; परन्तु पहले से ही 'समझ में नहीं आता'—ऐसा कहकर शास्त्र का अभ्यास ही छोड़ दे, उसे तो ज्ञान का प्रेम नहीं है।

सर्वज्ञदेव की पहचानपूर्वक सेवा-पूजा, सन्त-गुरु-धर्मात्मा की सेवा, साधर्मी का आदर—यह श्रावक को जरूर होता है। गुरुसेवा अर्थात् धर्म में जो बड़े हैं, धर्म में जो उच्च हैं और उपकारी हैं, उनके प्रति विनय-बहुमान का भाव होता है। वह शास्त्र का श्रवण भी विनयपूर्वक करता है। प्रमादपूर्वक या हाथ में पंखा लेकर हवा खाते-खाते शास्त्र सुने तो अविनय है। शास्त्र सुनने के प्रसंग में विनय से ध्यानपूर्वक उसका ही लक्ष्य रखना चाहिए।

इसके पश्चात् भूमिका के योग्य राग घटाकर संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। इसके पश्चात् श्रावक के व्रत कौन से होते हैं, वे आगे की गाथा में कहेंगे।

इन शुभ कार्यों में कोई राग का आदर करने का नहीं समझाया, परन्तु धर्मात्मा को शुद्धदृष्टिपूर्वक किस भूमिका में राग की कितनी मन्दता होती है, यह बतलाया है। भगवान् सर्वज्ञ परमात्मा के अनुरागी, वन में बसनेवाले वीतरागी सन्त नौ सौ वर्ष पहले हुए पद्मनन्दी मुनिराज ने इस श्रावकधर्म का प्रकाश किया है।

सर्वज्ञदेव की पूजा, धर्मात्मा गुरुओं की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय करना श्रावक का कर्तव्य है—ऐसा व्यवहार से उपदेश है। शुद्धोपयोग करना, यह तो प्रथम बात है परन्तु वह न हो सके तो शुभ की भूमिका में श्रावक के कैसे कार्य होते हैं, उसे बतलाने के लिए यहाँ उसे कर्तव्य कहा है—ऐसा समझना। इसमें जितना शुभराग है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और सम्यग्दर्शनसहित जितनी शुद्धता है, वह मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्ग में जिसने गमन किया है—ऐसे श्रावक को मार्ग में किस प्रकार के भाव होते हैं, आचार्यश्री ने उसे बतलाकर श्रावकधर्म को प्रकाशित किया है। ऐसा मनुष्य अवतार और ऐसा उत्तम जैन-शासन पाकर, हे जीव! उसे तू व्यर्थ न गँवा; प्रथम तो सर्वज्ञ—जिनदेव को पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर, इसके पश्चात् मुनिदशा के महाव्रत धारण कर; यदि महाव्रत न पाल सके तो श्रावक के धर्मों का पालन कर और श्रावक के देशव्रत धारण कर।

श्रावक के व्रत कौन से होते हैं, वे आगे की गाथा में कहते हैं। ●●●

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - यह सात शीलव्रत—इस प्रकार कुल बारह व्रत, रात्रि-भोजन परित्याग, पवित्र वस्त्र से छने जल को पीना तथा शक्ति के अनुसार मौनादि व्रत का पालन करना—ये सब आचरण भव्य जीवों को पुण्य के कारण हैं ॥५॥

आठ मूलगुण पाँच अणुव्रत सम्यग्दर्शन सहित धरें ।

गुणव्रत तीन चार शिक्षाव्रत यही शीलव्रत सात धरें ॥

निशि भोजन परित्याग वस्त्र से छने नीर का पान करें ।

शक्त्यनुसार मौन व्रत धारें तो भव्यों को पुण्य बँधे ॥५॥

देखो ! इसमें दो बात बतायी । एक तो दृग अर्थात् सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन होता है— यह बात बतायी और दूसरी यह शुभ-आचरण पुण्य का कारण है अर्थात् आस्रव का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं । मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जितनी वीतरागता हुई, वह है ।

जिसको आत्मभान हुआ है, कषायों से भिन्न आत्मभाव अनुभव में आया है, पूर्ण वीतरागता की भावना है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है; वहाँ श्रावक अवस्था में उसे किस प्रकार का आचरण होता है, वह यहाँ बताया गया है ।

जिस प्रकार गतिमान को धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसी प्रकार स्वाश्रित शुद्धात्मा के बल से जिसने मोक्षमार्ग में गमन किया है, उस जीव को बीच की भूमिका में यह व्रतादि शुभ-आचरण निमित्तरूप से होता है । सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से शुद्धता प्रारम्भ हुई है—निश्चय मोक्षमार्ग के जघन्य अंश की शुरुआत हो गयी है, पश्चात् पाँचवें गुणस्थान में शुद्धता बढ़ गयी है और राग बहुत कम हो गया है; उस भूमिका में शुभराग के आचरण की मर्यादा कितनी है और उसमें किस प्रकार के व्रत होते हैं, यह बताया है । यह शुभरागरूप आचरण श्रावक को पुण्यबन्ध का कारण है अर्थात् धर्मी जीव अभिप्राय में इस राग को भी कर्तव्य नहीं मानते, राग के एक अंश को भी धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं मानते, अतः उसे कर्तव्य नहीं मानते परन्तु अशुभ से बचने के लिए शुभ को व्यवहार से कर्तव्य कहा जाता है क्योंकि उस भूमिका में उस प्रकार का भाव होता है ।

जहाँ शुद्धता की शुरुआत हुई है परन्तु पूर्णता नहीं हुई, वहाँ बीच में साधक को महाव्रत या देशव्रत के परिणाम होते हैं, परन्तु जिसे अभी शुद्धता का अंश भी प्रगट नहीं

हुआ है, जिसे पर में कर्तव्यबुद्धि है, जो राग को मोक्षमार्ग स्वीकारता है, उसे तो अभी मिथ्यात्व का शल्य है; ऐसे शल्यवाले जीव को व्रत होते ही नहीं क्योंकि व्रती तो निःशल्य होता है—‘निःशल्यो व्रती’ यह भगवान उमास्वामी का सूत्र है। जिसे मिथ्यात्व का शल्य न हो, जिसे निदान का शल्य न हो, उसे ही पाँचवाँ गुणस्थान और व्रतीपना होता है।

पहली बात दृग अर्थात् सम्यग्दर्शन की है। सर्वज्ञदेव की प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, यह पहली शर्त है; पीछे आगे की बात है। श्रावक को सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूलगुणों का पालन नियम से होता है। बड़ का फल, पीपर, कठूमर, ऊमर तथा पाकर इन पाँच क्षीरवृक्षों को उदम्बर कहते हैं। ये त्रस-हिंसा के स्थान हैं, इनका त्याग तथा तीन ‘मकार’ अर्थात् मद्य, मांस, मधु का निरतिचार त्याग, ये श्रावक के आठ मूलगुण हैं; ये तो प्रत्येक श्रावक को नियम से ही होते हैं, (चाहे) मनुष्य हो, तिर्यच हो या स्त्री हो। अढ़ाईद्वीप के बाहर तिर्यचों में असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हीं में श्रावक-पंचमगुणस्थानी भी असंख्यात हैं। सम्यग्दृष्टि को जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसा प्रतीति में आ गया है और पर्याय में उसका अल्प शुद्ध परिणमन हुआ है। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा के परिणमनपूर्वक शुद्धता का परिणमन होता है; और ऐसी शुद्धि के साथ श्रावक को आठ मूलगुण, त्रसहिंसा के अभावरूप पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग इत्यादि होते हैं। उस सम्बन्धी शुभभाव हैं, वे पुण्य का उपार्जन करनेवाले हैं—‘पुण्याय भव्यात्मनाम्।’ कोई उसको मोक्ष का कारण मान ले तो वह भूल है। श्री उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र में भी शुभ आस्रव के प्रकरण में व्रतों का वर्णन किया है; उन्होंने कोई संवररूप से वर्णन नहीं किया है।

यहाँ श्रावक को मद्य, मांस इत्यादि का त्याग होने का कहा, परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिका में साधारण जिज्ञासु को भी मद्य, मांस, मधु, रात्रि-भोजन आदि तीव्र पाप के स्थानों का तो त्याग होता है और श्रावक को तो प्रतिज्ञापूर्वक नियम से उसका त्याग होता है।

रात्रि-भोजन में त्रसहिंसा होती है, इसलिए श्रावक को उसका त्याग होता ही है। इसी प्रकार अनछने पानी में भी त्रस जीव होते हैं। शुद्ध और मोटे कपड़े से गालने के पश्चात् ही श्रावक पानी पीता है। अस्वच्छ कपड़े से पानी छाने तो उस कपड़े के मैल में ही जीव होते हैं, इसलिए कहते हैं कि शुद्ध वस्त्र से छाना हुआ पानी को काम में लेवे। रात्रि

को तो पानी पिये नहीं और दिन में छानकर पिये। रात्रि को त्रस जीवों का संचार बहुत होता है; इसलिए रात्रि के खान-पान में त्रस जीवों की हिंसा होती है। जिसमें त्रसहिंसा होती है, ऐसे कोई कार्य के परिणाम त्रती श्रावक को नहीं हो सकते।

भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक बिना अथवा दिन-रात के बिना चाहे जैसे वर्तता होवे और कहे कि हम श्रावक हैं—परन्तु भाई! श्रावक को तो कितना राग घट गया है? उसको विवेक कितना होता है? एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थथ्सद्धि के देवों की अपेक्षा ऊँची जिसकी पदवी; उसके विवेक की और उसके मन्द राग की क्या बात? वह अन्दर शुद्धात्मा को दृष्टि में लेकर साध रहा है और पर्याय में राग बहुत ही घट गया है। मुनि की अपेक्षा थोड़ी ही कम इसकी दशा है।—यह श्रावकदशा अलौकिक है। वहाँ त्रसहिंसा के भाव कैसे? और अन्दर त्रस-हिंसा के भाव नहीं होते; अतः बाहर में भी त्रसहिंसा का आचरण सहज ही नहीं होता—ऐसी सन्धि है। अन्दर त्रसहिंसा के परिणाम न हो और बाहर हिंसा की चाहे जैसी प्रवृत्ति बना करे, ऐसा नहीं बनता।

कोई कहे कि सभी अभक्ष्य खाना सही परन्तु भाव नहीं करना;—तो वह स्वच्छन्दी है, अपने परिणाम का उसको विवेक नहीं है। भाई! जहाँ अन्दर से पाप के भाव छूट गये, वहाँ 'बाहर में पाप की क्रिया भले ही होवे' ऐसी उल्टी वृत्ति उठे ही कैसे? मुख में कन्दमूल भक्षण करता हो और कहे कि हमें राग नहीं—यह तो स्वच्छन्दता है। भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। तू स्वच्छन्दपूर्वक राग का सेवन करे और तुझे वीतराग-मार्ग हाथ में आ जावे, ऐसा नहीं है। स्वच्छन्दतापूर्वक राग को सेवे और अपने को मोक्षमार्गी मान ले, उसकी तो दृष्टि भी चोखी नहीं, सम्यग्दर्शन ही नहीं, वहाँ श्रावकपने की अथवा मोक्षमार्ग की बात कैसी? बीड़ी-तम्बाकू का व्यसन अथवा वासी अथाणा-मुरब्बा इन सबमें त्रसहिंसा है, श्रावक को उसका सेवन नहीं होता। इस प्रकार त्रसहिंसा के जितने स्थान हों, जहाँ-तहाँ त्रसहिंसा की सम्भावना हो, वैसे आचरण श्रावक को नहीं होते, ऐसा समझ लेना।

मद्य, माँस और मधु अर्थात् शहद, तथा पाँच प्रकार के उदम्बर फल, इनका त्याग तो श्रावक को प्रथम ही होता है। ऐसा पुरुषार्थसिद्धि उपाय में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है। जिन्हें इनका त्याग नहीं, उन्हें व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता और वे धर्मश्रवण

के भी योग्य नहीं। समन्तभद्रस्वामी ने श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में त्रसहिंसा के त्यागरूप पाँच अणुव्रत का पालन तथा मद्य-माँस-मधु का त्याग—इस प्रकार आठ मूलगुण कहे हैं।

मुख्यता तो दोनों में त्रसहिंसा सम्बन्धी तीव्र पापपरिणामों के त्याग की बात है। जिस गृहस्थ को सम्यग्दर्शनपूर्वक पाँच पाप और तीन 'म' कार के त्याग की दृढ़ता हुई है, उसने समस्त गुणरूपी महल की नींव डाली। अनादि से संसार-भ्रमण का कारण जो मिथ्यात्व और तीव्र, पाप उसका अभाव होते ही जीव अनेक गुण ग्रहण का पात्र हुआ है। इसलिए इन आठ त्यागों को अष्ट मूलगुण कहा है। बहुत से लोग दवा आदि में मधु सेवन करते हैं, परन्तु माँस की तरह ही मधु को भी अभक्ष्य गिना है। रात्रि के भोजन में भी त्रसहिंसा का बड़ा दोष है। श्रावक को ऐसे परिणाम नहीं होते।

भाई! अनन्त काल में तुझे ऐसा मनुष्य-अवतार मिला तो उसमें आत्मा का हित किस प्रकार हो-उसका विचार कर। एक अंगुल जितने क्षेत्र में असंख्यात औदारिकशरीर; एक शरीर में अनन्त जीव; वे कितने? अभी तक जितने सिद्ध हुए, उनसे भी अनन्तगुणे निगोद जीव एक-एक शरीर में हैं; उस निगोद में से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना और उसमें मनुष्यपना और जैनधर्म का ऐसा अवसर मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है। भाई! तुझे उसकी प्राप्ति हुई है तो आत्मा का जिज्ञासु होकर मुनिदशा या श्रावकदशा प्रगट कर। यह अवसर धर्म के सेवन बिना निष्फल न गंवा। सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कहे हुये आत्मा के हित का सच्चा रास्ता अनन्त काल में तूने नहीं देखा - सेवन नहीं किया, वह मार्ग यहाँ, सर्वज्ञ परमात्मा के अनुगामी सन्त तुझे बता रहे हैं। सती राजमती, द्रौपदी, सीताजी, ब्राह्मी-सुन्दरी, चन्दना, अंजना तथा रामचन्द्रजी, भरत, सुदर्शन, वारिषेणकुमार आदि पूर्व में राजपाट में थे, तब भी वे संसार से एकदम उदासीन थे, वे भी आत्मा के भान सहित धर्म का सेवन करते थे। अर्थात् गृहस्थ-अवस्था में हो सके ऐसी (श्रावकधर्म की) यह बात है। पश्चात् छठवें-सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा तो विशेष ऊँची दशा है; वह गृहस्थ-अवस्था में रहकर नहीं हो सकती! परन्तु गृहस्थ-अवस्था में रहकर जो सम्यग्दर्शन पूर्वक शक्ति अनुसार वीतरागधर्म का सेवन करते हैं, वे भी अल्प काल में मुनिदशा और केवलज्ञान प्रगट कर मोक्ष को प्राप्त होंगे! ●●●

***** [६] *****

*
*
*
*
*

श्रावक के बारह व्रत

अपने आंगन में मुनिराज को देखते ही धर्मात्मा को अत्यन्त आनन्द होता है। श्रावक को आठ प्रकार की कषाय के अभाव से सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उतना मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग हो वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते। भाई! आत्मा का खजाना खोलने के लिए यह अवसर मिला, उसमें विकथा में समय नष्ट करना कैसे शोभे? सम्यक्त्वसहित आंशिक वीतरागतापूर्वक श्रावकपना शोभता है।

पाँचवीं गाथा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे जो बारह व्रत कहे, वे कौन हैं? यह बतलाकर उनका पालन करने को कहते हैं:—

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वान्त्रसान रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते ॥
दिग्देशव्रत दण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररी कुर्याद गृहीति व्रती ॥६॥

अर्थ : व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिए स्थावरकाय के जीवों को मारता है तथा दो इन्द्रिय को आदि लेकर सैनी पंचेन्द्रिपर्यन्त समस्त त्रसजीवों की रक्षा करता है और सत्य बोलता है तथा अचौर्यव्रत का पालन करता है और स्वस्त्री का सेवन करता है तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है और सामायिक, प्रौषधोपवास तथा दान को करता है और भोगोपभोग-परिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है ॥६॥

स्व प्रयोजन से एकेन्द्रियवध सर्व त्रसों पर दया करे ।
 सत्य कहे चोरी न करे निज वनिता का ही बोध करे ॥
 दिग्व्रत देश-अनर्थदण्ड व्रत सामायिक प्रोषध धारे ।
 दान करे भोगोपभोग परिमाण गृहस्थव्रती धारे ॥६ ॥

देशव्रती श्रावक को प्रयोजनवश (आहार आदि में) स्थावर जीवों की हिंसा होती है परन्तु समस्त त्रस जीवों की तो रक्षा करता है; सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत पालता है, शुद्ध स्वस्त्री के सेवन में सन्तोष अर्थात् कि परस्त्री सेवन का त्याग है अथवा पाँचवाँ व्रत परिग्रह की मर्यादा भी श्रावक को होती है । अभी उसके मुनिदशा नहीं अर्थात् सर्व परिग्रह का भाव नहीं छूटा; परन्तु उसकी मर्यादा आ गयी है । परिग्रह में कहीं सुख नहीं है, ऐसा भान है और 'कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी अन्तर्दृष्टि में तो सर्व परिग्रह छूटा ही हुआ है, परन्तु चारित्र अपेक्षा से अभी गृहस्थ को सर्व परिग्रह नहीं छूटा । मिथ्यात्व का परिग्रह छूटा गया है और दूसरे परिग्रह की मर्यादा हो गयी है । इस प्रकार पाँच अणुव्रत गृही-श्रावक को होते हैं; तथा दिग्व्रत, देशव्रत और अर्थदण्ड का त्यागरूप व्रत ये तीन गुणव्रत होते हैं और सामायिक, प्रौषधोपवास, दान अर्थात् अतिथिसंविभाग और भोगोपभोग-परिमाण, ये चार शिक्षाव्रत होते हैं ।—इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत होते हैं । ये व्रत पुण्य के कारण हैं—वह बात पाँचवीं गाथा में कही गयी है ।

चार अनन्तानुबन्धी और चार अप्रत्याख्यान इन आठ कषायों के अभाव से श्रावक को सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उतना मोक्षमार्ग है; ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो, वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते । आत्मा परजीव को मार सके या जिला सके, ऐसी बाहर की क्रिया के कर्तव्य की यह बात नहीं है, परन्तु अन्दर ऐसे हिंसा के परिणाम ही उसे नहीं होते । प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की मर्यादा स्वयं की वस्तु के प्रवर्तन में ही है, पर में प्रवर्तन नहीं होता ।—ऐसे वस्तुस्वरूप के भानपूर्वक अंतरंग में कुछ स्थिरता हो, तभी व्रत होता है; और उसे श्रावकपना कहा जाता है । ऐसे श्रावक को त्रसहिंसा (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय) का सर्वथा त्याग हो; और स्थावर हिंसा की भी मर्यादा हो—ऐसा अहिंसाव्रत होता है ।

इसी प्रकार सत्य का भाव हो और असत्य का त्याग हो; चोरी का त्याग हो; परस्त्री

का त्याग हो और स्वस्त्री में सन्तोष, और वह भी शुद्ध हो तभी, अर्थात् कि ऋतुमती-अशुद्ध हो, तब उसका भी त्याग—इस प्रकार का एकदेश ब्रह्मचर्य हो; तथा परिग्रह की कुछ मर्यादा हो; इस प्रकार श्रावक को पाँच अणुव्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत पश्चात् श्रावक को तीन गुणव्रत भी होते हैं:—

प्रथम दिग्ब्रत अर्थात् दशों दिशा में निश्चित मर्यादा तक ही गमन करने की जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा करना।

दूसरा देशव्रत अर्थात् दिग्ब्रत में जो मर्यादा है, उसमें भी निश्चित क्षेत्र के बाहर नहीं जाने का नियम करना।

तीसरा अनर्थदण्डपरित्यागव्रत अर्थात् बिना प्रयोजन के पापकार्य करने का त्याग; उसके पाँच प्रकार—अपध्यान, पाप का उपदेश, प्रमादचर्या, जिससे हिंसा हो—ऐसे शस्त्र आदि का दान और दुःश्रुति—जिससे राग-द्वेष की वृद्धि हो, ऐसी दुष्ट कथाओं का श्रवण वह न करे। इस प्रकार श्रावक के तीन गुणव्रत होते हैं।

और चार शिक्षाव्रत होते हैं। सामायिक—अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक प्रतिदिन परिणाम को अन्तर में एकाग्र करने का अभ्यास करे।

प्रौषधोपवास—अष्टमी, चौदस के दिनों में श्रावक उपवास करके परिणाम को विशेष एकाग्र करने का प्रयोग करे। सभी आरम्भ छोड़कर धर्मध्यान में ही पूरा दिन व्यतीत करे।

दान—अपनी शक्ति अनुसार योग्य वस्तु का दान करे; आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान, अभयदान—इस प्रकार चार प्रकार के दान श्रावक करे। उनका विशेष वर्णन आगे करेंगे। अतिथि के प्रति अर्थात् मुनि या धर्मात्मा श्रावक के प्रति बहुमान पूर्वक आहार दानादि करे, शास्त्र देवे, ज्ञान का प्रचार कैसे बढ़े—ऐसी भावना उसको होती है। इसे अतिथिसंविभाग-व्रत कहते हैं।

भोगोपभोगपरिणाम व्रत—अर्थात् खाने-पीने इत्यादि की जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है, उसे भोग-सामग्री कहते हैं, और वस्त्रादि जो सामग्री बारम्बार उपयोग में आवे उसे उपभोग-सामग्री कहते हैं; उसका प्रमाण करे, मर्यादा करे। उसमें सुखबुद्धि तो पहले से ही छूट गयी है, क्योंकि जिसमें सुख माने, उसकी मर्यादा नहीं होती।

इस प्रकार पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे बारह व्रत श्रावक को होते हैं। इन व्रतों में जो शुभविकल्प है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और उस समय स्वद्रव्य के आलम्बनरूप जितनी शुद्धता होती है, वह संवर-निर्जरा है। ज्ञायक आत्मा, राग के एक अंश का भी कर्ता नहीं और राग के एक अंश से भी उसे लाभ नहीं—ऐसा भान धर्मों को बना रहता है। यदि ज्ञान में राग का कर्तृत्व माने अथवा राग से लाभ माने तो मिथ्यात्व है। भेदज्ञानी शुभराग के पाप से बचा, उतना लाभ कहलाता है, परन्तु निश्चयधर्म का लाभ उस शुभराग में नहीं है। धर्म का लाभ तो जितना वीतरागभाव हुआ, उतना ही है। सम्यक्त्वरहित अंशरूप में वीतरागभावपूर्वक श्रावकपना शोभता है।

भाई! आत्मा के खजाने को खोलने के लिए ऐसा अवसर मिला, उसमें विकथा में, पापस्थान में और पापाचार में समय गँवाना कैसे निभे? सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे हुए आत्मा के शुद्धस्वभाव को लक्ष्य में लेकर बारम्बार उसको अनुभव में ला और उसमें एकाग्रता की वृद्धि कर। लोक में ममतावाले जीव भोजन आदि सर्व प्रसंग में स्त्री-पुत्रादि को ममता से याद करते हैं, उसी प्रकार धर्म के प्रेमी जीव भोजनादि सर्व प्रसंग में प्रेमपूर्वक धर्मात्मा को याद करते हैं कि मेरे आँगन में कोई धर्मात्मा अथवा कोई मुनिराज पधारें तो उनको भक्तिपूर्वक भोजन देखकर मैं भोजन करूँ। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते थे, और मुनिराज के पधारने पर परम भक्तिपूर्वक आहारदान करते थे। अहा! ऐसा लगे कि आँगन में कल्पवृक्ष फलित हुआ, इससे भी अधिक आनन्द मोक्षमार्ग साधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर धर्मात्मा को होता है। अपनी रागरहित चैतन्यस्वभाव की दृष्टि है और सर्व संगत्याग की बुद्धि है, वहाँ गृहस्थ को ऐसे शुभभाव आते हैं। उस शुभराग की मर्यादा जितनी है, उतनी वह जानता है। अन्तर का मोक्षमार्ग तो राग से पार चैतन्यस्वभाव के आश्रय से परिणमता है। श्रावक के व्रत में मात्र शुभराग की बात नहीं है। जो शुभराग है, उसे तो जैनशासन में पुण्य कहा है और उस समय श्रावक को स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता वर्तती है, उतना धर्म, वह परमार्थ व्रत है और वह मोक्ष का साधन है—ऐसा समझना। ●●●

***** [७] *****
*
* गृहस्थ को सत्पात्रदान की मुख्यता *
*

*
* भाई! लक्ष्मी तो क्षणभंगुर है; तू दान द्वारा लक्ष्मी आदि का प्रेम *
* हटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। जिसे धर्म का उल्लास होता है, उसे धर्म प्रसंग *
* में तन-मन-धन खर्च करने का उल्लास आये बिना नहीं रहता। धर्म की शोभा *
* किस प्रकार बढ़े, धर्मात्मा किस प्रकार आगे बढ़े और साधर्मियों को कोई *
* प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसा प्रसंग विचारकर श्रावक उसमें *
* उत्साह से वर्तता है। ऐसे धर्म के प्रेमी श्रावक को दान के भाव होते हैं। *
*

सम्यग्दर्शनपूर्वक देशव्रती श्रावक को अष्ट मूलगुण और बारह अणुव्रत होते हैं—
यह बतलाया है। अब कहते हैं कि—गृहस्थ को यद्यपि जिनपूजा आदि अनेक कार्य होते
हैं तो भी उनमें सत्पात्रदान सबसे मुख्य है—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥७॥

अर्थ : यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के श्रेष्ठपुण्य के संचय करनेवाले
जिनेन्द्रदेव की सेवा तथा पूजन प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं,
तथापि उन सब उत्तम कार्यों में संसार-समुद्र से पार करने में जहाज के समान श्रेष्ठ मुनि
आदि पात्रों को जो दान देता है, वह उन धनवान धर्मात्मा-श्रावकों का सबसे प्रधान गुण

(कर्तव्य) है; इसलिए भव्य श्रावकों को सदा उत्तम आदि पात्रों में दान देना चाहिए ॥७॥

पुण्योपार्जन कारक जिन-पूजन अरु अर्चनादि बहु कार्य ।
धर्मात्मा धनवान श्रावकों के घर प्रतिदिन हों ये कार्य ॥
किन्तु दान सत्पात्रों को है भव समुद्र से तारक पोत ।
अतः देशव्रतधारी धनिकों का है यह अति उत्तम गुण ॥७॥

श्रावक को सत् पुण्योपार्जन के कारणरूप जिनदेव का आराधन-पूजन आदि अनेक कार्य हमेशा होते हैं; उसमें भी धनवान श्रावक का तो संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका समान ऐसा सत्पात्रदान उत्तम गुण है; अर्थात् श्रावक के सब कार्यों में दान मुख्य कार्य है ।

धर्मी जीव प्रतिदिन धर्म की प्रभावना, ज्ञान का प्रचार, भगवान की पूजा-भक्ति आदि कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया करता है, उनमें धर्मात्मा को मुनि आदि के प्रति भक्तिपूर्वक दान देना मुख्य है । आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान— ये चार प्रकार के दान आगे के चार श्लोक में बतावेंगे ।

धनवान अर्थात् जिसने अभी परिग्रह नहीं छोड़ा, ऐसे श्रावक का मुख्य कार्य सत्पात्रदान है । सम्यग्दर्शनपूर्वक जहाँ ऐसे दान-पूजादि का शुभराग आता है, वहाँ अन्तर्दृष्टि में उस राग का भी निषेध वर्तता है, अर्थात् उस धर्मी को उस राग से 'सत् पुण्य' बँधता है । अज्ञानी को 'सत् पुण्य' नहीं होता क्योंकि उसे तो पुण्य की रुचि है, राग के आदर की बुद्धि से पुण्य के साथ मिथ्यात्वरूपी बड़ा पापकर्म उसे बँधता है ।

यहाँ दान की मुख्यता कही है, उससे अन्य का निषेध न समझना । जिनपूजा आदि को भी सत् पुण्य का हेतु कहा है, वह भी श्रावक को प्रतिदिन होता है । कोई उसका निषेध करे तो उसे श्रावकपने की या धर्म की खबर नहीं है ।

जिनपूजा को कोई परमार्थ से धर्म ही मान ले तो भूल है और जिनपूजा का कोई निषेध करे तो वह भी भूल है । जिन-प्रतिमा जैनधर्म में अनादि की वस्तु है, परन्तु वह जिन प्रतिमा वीतराग हो—'जिनप्रतिमा जिनसारखी ।' किसी ने इस जिन-प्रतिमा पर चन्दन-पुष्प-आभरण-मुकुट-वस्त्र आदि चढ़ाकर उसका स्वरूप विकृत कर दिया और किसी ने जिन-प्रतिमा के दर्शन-पूजन में पाप बतलाकर उसका निषेध किया हो—यह दोनों ही

भूल हैं। इस सम्बन्धी एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—दो मित्र थे; एक मित्र के पिता ने दूसरे के पिता को १०० (एक सौ) रुपये उधार दिये और बही में लिख लिये। दूसरे का पिता मर गया। कितने ही वर्षों के बाद पुराने बहीखाते देखने पर पहले मित्र को खबर लगी कि मेरे पिता ने मित्र के पिता को एक सौ रुपया दिये थे, परन्तु उसे तो बहुत वर्ष बीत गये। ऐसा समझकर उसने १०० के आगे दो बिन्दु लगाकर १०,००० (दस हजार) बना दिये; और पश्चात् मित्र को कहा कि तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से दस हजार रुपये लिये थे, इसलिए लौटाओ। तब मित्र ने कहा कि मैं मेरे पुराने बही-चोपड़े देखकर फिर कहूँगा। घर जाकर पिता की बहियाँ देखी तो उसमें दस हजार के बदले सौ रुपये निकले। इस पर उसने विचार किया कि यदि रुपये स्वीकार करता हूँ तो मुझे दस हजार रुपये देना पड़ेगा। इसलिए उसकी नीयत खराब हो गयी और उसने तो मूल से ही उड़ा दी कि मेरी बहियों में कुछ नहीं निकला। इसमें सौ रुपये की रकम तो सच्ची थी, परन्तु एक ने लोभवश उसमें दो बिन्दु बढ़ा दिये और दूसरे ने वह रकम सम्पूर्ण उड़ा दी। उसी प्रकार अनादि जिनमार्ग में जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, उनकी पूजा आदि यथार्थ हैं; परन्तु एक ने दो बिन्दुओं की तरह उसके ऊपर वस्त्र-आभरण आदि परिग्रह बढ़ाकर विकृति कर डाली और दूसरे ने तो शास्त्र में मूर्ति ही नहीं है—ऐसा गलत अर्थ करके उसका निषेध किया है और इन दो के अतिरिक्त, वीतरागी जिनप्रतिमा को स्वीकार करके भी उस और के शुभराग को जो मोक्ष के साधनरूप धर्म बतावे, उसने भी धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझा है। भाई! जिनप्रतिमा है, उसके दर्शन-पूजन का भाव होता है, परन्तु उसकी सीमा कितनी? कि शुभराग जितनी।—इससे आगे बढ़कर इसे यदि तू परमार्थ धर्म मान ले तो वह तेरी भूल है।

एक शुभ विकल्प उठे, वह भी वास्तव में ज्ञान का कार्य नहीं है। मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ, जैसे सर्वज्ञ में विकल्प नहीं, वैसे ही मेरे ज्ञान में भी रागरूपी विकल्प नहीं हैं। 'ये विकल्प उठते हैं न?'—तो कहते हैं कि वह कर्म का कार्य है, मेरा नहीं। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान का कार्य राग कैसे हो?—इस प्रकार ज्ञानी को राग से पृथक् त्रैकालिक स्वभाव के भानपूर्वक उसे टालने का उद्यम होता है। जिसने राग से पृथक् अपने स्वरूप को नहीं जाना और राग को अपना स्वरूप माना है, वह राग को कहाँ से टाल सकेगा? ऐसे भेदज्ञान के बिना सामायिक भी सच्ची नहीं होती। सामायिक तो दो घड़ी अन्तर में निर्विकल्प आनन्द

के अनुभव का एक अभ्यास है; और दिन-रात चौबीस घण्टे आनन्द के अनुभव की जाँच, उसका नाम प्रौषध है; और शरीर छूटने के प्रसंग में अन्तर में एकाग्रता का विशेष अभ्यास का नाम संल्लेखना अथवा संथारा है। परन्तु जिसे राग से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव ही नहीं, उसे कैसी सामायिक ? कैसा प्रौषध ? और कैसा संथारा ? भाई ! यह वीतरागमार्ग जगत से न्यारा है।

यहाँ अभी जिसने सम्यग्दर्शनसहित व्रत अंगीकार किये हैं, ऐसे धर्मी श्रावक को जिन-पूजा आदि के उपरान्त दान के भाव होते हैं, उसकी चर्चा चल रही है। तीव्र लोभरूपी कुँए की खोल में फँसे हुए जीवों को उसमें से बाहर निकलने के लिए श्री पद्मनन्दीस्वामी ने करुणा करके दान का विशेष उपदेश दिया है। दान अधिकार की छयालीसवीं गाथा में कौवे का दृष्टान्त देकर कहा है कि—जो लोभी पुरुष दान नहीं देता और लक्ष्मी के मोहरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, उसका जीवन व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा तो वह कौवा श्रेष्ठ है जो अपने को मिली हुई जली खुरचन को काँव-काँव करके दूसरे कौवों को बुलाकर खाता है। जिस समय में तेरे गुण जले अर्थात् उनमें विकृति हुई, उस समय में राग से पुण्य बँधा, उस पुण्य से कुछ लक्ष्मी मिली और अब तू सत्पात्र के दान में उसे नहीं खर्चे और मात्र पापहेतु में ही खर्चे तो तुझे सिर्फ पाप का ही बन्धन होता है; तेरी यह लक्ष्मी तुझे बंधन का ही कारण है। सत्पात्र दानरहित जीवन निष्फल है क्योंकि जिसमें धर्म का और धर्मात्मा का प्रेम नहीं, उसमें आत्मा का क्या लाभ ?

भाई ! यह दान का उपदेश सन्त तेरे हित के लिये देते हैं। सन्त तो वीतरागी हैं और उन्हें तेरे धन की वांछा नहीं है, वे तो परिग्रहरहित दिगम्बर सन्त वन-जंगल में बसनेवाले और चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले हैं। यह जीवन, यौवन और धन सब स्वप्न समान क्षणभंगुर हैं—तो भी जो जीव सत्पात्रदान आदि में उसका उपयोग नहीं करते और लोभरूपी कुँए की खोल में भरे हुए हैं, उन पर करुणा करके उद्धार के लिए सन्तों ने यह उपदेश दिया है। अन्तर में सम्यग्दृष्टिपूर्वक अन्य धर्मात्माओं के प्रति दान-बहुमान का भाव आवे, उसमें स्वयं की धर्मभावना पुष्ट होती है; इसलिए ऐसा कहा कि दान श्रावक को भवसमुद्र से तिरने के लिए जहाज के समान है। जिसे निज-धर्म का प्रेम है, उसे अन्य धर्मात्मा के प्रति प्रमोद प्रेम और बहुमान आता है। धर्म, धर्मी जीव के आधार से है, इसलिए जिसे धर्मी जीवों के

प्रति प्रेम नहीं; जो मनुष्य साधर्मी-सज्जनों के प्रति शक्ति अनुसार वात्सल्य नहीं करता, उसकी आत्मा प्रबल पाप से ढँकी हुई है और धर्म से वह विमुख है अर्थात् वह धर्म का अभिलाषी नहीं है। भव्य जीवों को साधर्मी-सज्जनों के साथ अवश्यक प्रीति करनी चाहिए—ऐसा उपासक-संस्कार की गाथा ३६ में पद्मनन्दीस्वामी ने कहा है, लक्ष्मी आदि का प्रेम घटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। स्वयं को धर्म का उल्लास आवे तो धर्म प्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का भाव उछले बिना नहीं रहे; धर्मात्मा को देखते ही उसे प्रेम उमड़ता है। वह जगत को दिखाने के लिए दानादि नहीं करता, परन्तु स्वयं को अन्तर में धर्म का ऐसा प्रेम सहज ही उल्लसित होता है।

धर्मात्मा की दृष्टि में तो आत्मा के आनन्दस्वभाव की ही मुख्यता है, परन्तु उसको शुभ कार्यों में दान की मुख्यता है। दृष्टि में आनन्द की मुख्यता रखते हुए भूमिका अनुसार दानादि के शुभ भावों में वह प्रवर्तता है। वह किसी को दिखाने के लिए नहीं करता परन्तु अन्तर में धर्म के प्रति उसको सहजरूप से उल्लास आता है।

लोग स्थूलदृष्टि से धर्मी को मात्र शुभभाव करता हुए देखते हैं, परन्तु अन्दर की गहराई में धर्मी की मूलभूत दृष्टि वर्तती है—जो स्वभाव का अवलम्बन कभी नहीं छोड़ती और राग को कभी आत्मरूप नहीं करती—उसको दुनिया नहीं देखती, परन्तु धर्म का मूल तो वह दृष्टि है। 'धर्म का मूल गहरा है।' गहरा ऐसा जो अन्तरंगस्वभावधर्म का वटवृक्ष है, उस ध्रुव पर दृष्टि डालकर एकाग्रता का सींचन करते-करते इस वटवृक्ष में से केवलज्ञान प्रगट होगा। अज्ञानी के शुभभाव अर्थात् परलक्षी शास्त्रपठन, ये तो भाद्रपद महीने के भिण्डी के पौधे जैसे हैं, वे लम्बे काल तक टिकेंगे नहीं। धर्मात्मा को ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से धर्म का विकास होता है, बीच में शुभराग और पुण्य आता है, उसको तो वह हेय जानता है;—जो विकार है, उसकी महिमा क्यों? और उससे आत्मा की महत्ता क्या? अज्ञानी तो राग द्वारा अपनी महत्ता मानकर, स्वभाव की महत्ता को भूल जाता है और संसार में भटकता है। ज्ञानी को सत्स्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो पुण्यबंध होता है, उसे सत् पुण्य कहते हैं; अज्ञानी के पुण्य को सत् पुण्य नहीं कहते।

जिसे राग-पुण्य की और उसके फल की प्रीति है, वह तो अभी संयोग ग्रहण करने की भावनावाला है, अर्थात् उसे दान की भावना सच्ची नहीं होती। स्वयं तृष्णा घटवे तो दान

का भाव कहा जाता है, परन्तु जो अभी किसी को ग्रहण करने में तत्पर है और जिसे संयोग की भावना है, वह राग घटाकर दान देने में प्रसन्न कहाँ से होगा ? मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी, स्वयं से पूर्ण है, पर का ग्रहण अथवा त्याग मेरे में है ही नहीं—ऐसे असंगस्वभाव की दृष्टिवाला जीव परसंयोगहेतु माथापच्ची न करे; इसे संयोग की भावना कितनी टल गयी है ? परन्तु इसका माप अन्तर्दृष्टि बिना पहिचाना नहीं जा सकता ।

भाई ! तुझे पुण्योदय से लक्ष्मी मिली और जैनधर्म के सच्चे देव-गुरु महारत्न तुझे महाभाग्य से मिले, अब यदि तू धर्म-प्रसंग में तेरी लक्ष्मी का उपयोग करने के बदले स्त्री-पुत्र तथा विषय-कषाय के पापभाव में ही धन का उपयोग करता है तो हाथ में आया हुआ रत्न समुद्र में फेंक देने जैसा तेरा कार्य है । जिसे धर्म का प्रेम होता है, वह तो धर्म की वृद्धि किस प्रकार हो, धर्मात्मा कैसे आगे बढ़े, साधर्मियों को कोई भी प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसे प्रसंग विचार-विचारकर उनके लिए उत्साह से धन खर्चता है । धर्मी जीव बारम्बार जिनेन्द्र पूजन का महोत्सव करता है । पुत्र के लग्न में कितने उत्साह से धन खर्च करता है ? उधार करके भी खर्चता है, तो धर्म की लगन में देव-गुरु की प्रभावना के लिए और साधर्मी के प्रेम के लिए उससे भी विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तना योग्य है । एक बार शुभभाव में कुछ खर्च कर दिया, इसलिए बस है—ऐसा नहीं, परन्तु बारम्बार शुभकार्य से उल्लास से वर्ते ।

दान अपनी शक्ति अनुसार होता है, लाख-करोड़ की सम्पत्ति में से सौ रुपया खर्च हो, वह कोई शक्ति-अनुसार नहीं कहा जा सकता । उत्कृष्टरूप से चौथा भाग, मध्यमरूप से छठवाँ भाग, तथा कम से कम दसवाँ भाग खर्च करे, उसको शक्ति-अनुसार दान का गया है ।

देखो ! यह किसी प्रकार कोई पर के लिए करने की बात नहीं है, परन्तु आत्मा के भानसहित परिग्रह की ममता घटाने की बात है । नये-नये महोत्सव के प्रसंग तैयार करके श्रावक अपने धर्म का उत्साह बढ़ाता जाता है और पापभाव घटाता जाता है । उन प्रसंगों में मुनिराज को अथवा धर्मात्मा को अपने आँगन में बैठाकर भक्ति से आहारदान करना, उसका प्रधान कर्तव्य कहा गया है क्योंकि उसमें धर्म के स्मरण का और धर्म-भावना की पुष्टि का सीधा निमित्त है । मुनिराज इत्यादि धर्मात्मा को देखते ही स्वयं के रत्नत्रयधर्म की भावना तीव्र हो जाती है ।

कोई कहे कि हमारे पास बहुत सम्पत्ति नहीं है, तो कहते हैं कि भाई! कम पूँजी हो तो कर्म ही खर्च कर। तुझे तेरे भोग-विलास के लिए लक्ष्मी मिलती है और धर्म प्रभावना का प्रसंग आता है, वहाँ तू हाथ खींच लेता है, तो तेरे प्रेम की दिशा धर्म की ओर नहीं परन्तु संसार की ओर है। धर्म के वास्तविक प्रेमवाला धर्मप्रसंग में नहीं छिपता।

भाई! लक्ष्मी की ममता तो तुझे केवल पापबन्ध का कारण है। स्त्री, पुत्र के लिए या शरीर के लिए तू जो लक्ष्मी खर्च करेगा, वह तो तुझे मात्र पापबन्ध का ही कारण होगी और वीतरागी देव-गुरु-धर्म-शास्त्र-जिनमन्दिर आदि में जो तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करे तो वह पुण्य का कारण होगी और तेरे धर्म के संस्कार भी दृढ़ होंगे। इसलिए संसार के निमित्त और धर्म के निमित्त, इन दोनों का विवेक कर। धर्मात्मा श्रावक को तो सहज ही यह विवेक होता है और उसे सुपात्रदान का भाव होता है। जैसे रिश्तेदार को प्रेम से-आदर से जीमाता है; उसी प्रकार सच्चा सम्बन्ध साधर्मी से है। साधर्मी-धर्मात्माओं को प्रेम से-बहुमान से घर बुलाकर जीमाता है—ऐसे दान के भाव को संसार से तिरने का कारण कहा है, क्योंकि मुनि के या धर्मात्मा के अन्तर के ज्ञानादि की पहचान, वह संसार से तिरने का हेतु होता है। सच्ची पहिचानपूर्वक की यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना अकेले दान के शुभपरिणाम से भव का अन्त हो जाए—ऐसा नहीं बनता। यहाँ तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक को दान के भाव होते हैं, इसकी मुख्यता है।

दान के चार प्रकार हैं—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान—उनका वर्णन करते हैं। ●●●

धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है; इसलिए इस दुःखमकाल में मोक्षपदवी की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थों के दिये हुए दान से ही होती है — ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों के लिये दान देना चाहिए ॥८ ॥

सभी जीव नित सुख चाहें पर सुख शिवपुर में यह स्पष्ट ।
शिवपुर रत्नत्रय से मिलता जिसे धारते हैं निर्ग्रन्थ ॥
वह तो देहाश्रित अरु देह टिके जो श्रावक देते अन्न ।
क्लिष्ट काल में शिवपथ वृत्ति हो गृहस्थ के दान सुधर्म ॥८ ॥

सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूप से मोक्ष में है; उस मोक्ष की सिद्धि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है; रत्नत्रय निर्ग्रन्थ-दिगम्बर साधु को होता है; साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, और शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है; और भोजन श्रावकों द्वारा देने में आता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लिष्ट काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति 'प्रायः' श्रावकों के निमित्त से हो रही है।

व्यवहार का कथन है, इसलिए प्रायः शब्द रखा है; निश्चय से तो आत्मा के शुद्धभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिका हुआ है और उस भूमिका में यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दान के उपदेश में प्रायः इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में कोई आहार या शरीर से मोक्षमार्ग टिकता है—ऐसा नहीं बताना है। अरे, मोक्षमार्ग के टिकने में जहाँ महाव्रत आदि के शुभराग का सहारा नहीं, वहाँ शरीर और आहार की क्या बात? इसके आधार से मोक्षमार्ग कहना, वह सब निमित्त का कथन है। यहाँ तो आहारदान देने में धर्मी जीव—श्रावक का ध्येय कहाँ है? यह बतलाना है। दान आदि के शुभभाव के समय ही धर्मी गृहस्थ को अन्तर में मोक्षमार्ग का बहुमान है; पुण्य का बहुमान नहीं, बाह्य क्रिया का कर्तृत्व नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का ही बहुमान है कि अहो, धन्य ये सन्त! धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज पधारे! आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगन में आया। अहो, धन्य यह मोक्षमार्ग! ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल उठता है, मुनि के प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है। 'साचुरे सगपण साधर्मीतणुं'—अन्य लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा उसे धर्मात्मा के प्रति

विशेष उल्लास आता है। मोही जीव को स्त्री-पुत्र-भाई-बहिन आदि के प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है, वह तो पापभक्ति है; धर्मी जीव को देव-गुरु-धर्मात्मा के प्रति परम प्रीतिरूप भक्ति उछल उठती है, वह पुण्य का कारण है और उसमें वीतरागविज्ञानमय धर्म के प्रेम का पोषण होता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, उसे धर्म के प्रति भी भक्ति नहीं, क्योंकि धर्मी के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मात्मा के प्रति उल्लास आये बिना नहीं रहता।

सीताजी के विरह में रामचन्द्रजी की चेष्टा साधारण लोगों को तो पागल जैसी लगे, परन्तु उनका अन्तरंग कुछ भिन्न ही था। अहो, सीता मेरी सहधर्मिणी! उसके हृदय में धर्म का वास है, उसे आत्मज्ञान वर्त रहा है; वह कहाँ होगी? इस जंगल में उसका क्या हुआ होगा? इस प्रकार साधर्म्यपने के कारण रामचन्द्रजी को सीता के हरण से विशेष दुःख आया था। अरे, वह धर्मात्मा देव-गुरु की परम भक्त, इसे मेरा वियोग हुआ, मुझे ऐसी धर्मात्मा-साधर्म्य का बिछोह हुआ—ऐसे धर्म की प्रधानता का विरह है। परन्तु ज्ञानी के हृदय को संयोग की ओर से देखनेवाले मूढ़ जीव परख नहीं सकते।

धर्मी—श्रावक अन्य धर्मात्मा को देखकर आनन्दित होते हैं और बहुमान से आहारदान आदि का भाव आता है; उसका यह वर्णन चल रहा है। मुनि को तो कोई शरीर पर राग नहीं है, वे चैतन्यसाधना में लीन हैं; और जब कभी देह की स्थिरता के लिए आहार की वृत्ति उठती है, तब आहार के लिए नगरी में पधारते हैं। ऐसे मुनि को देखते गृहस्थ को ऐसे भाव आते हैं कि अहो! रत्नत्रय को साधनेवाले इन मुनि को शरीर की अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे ये रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें। इस प्रकार व्यवहार से शरीर को धर्म का साधन कहा है और उस शरीर का निमित्त अन्न है; अर्थात् वास्तव में तो आहारदान देने के पीछे गृहस्थ की भावना परम्परा से रत्नत्रय के पोषण की है; इसका लक्ष्य रत्नत्रय पर है और उस भक्ति के साथ उपजे आत्मा में रत्नत्रय की भावना पुष्ट करता है। श्री रामचन्द्रजी और सीताजी जैसे भी परमभक्ति से मुनियों को आहार देते थे।

मुनियों के आहार की विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते। वे जैनधर्म की श्रद्धावाले श्रावक के यहाँ ही नवधाभक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं।

श्रावक के यहाँ भी बुलाये बिना (-भक्ति से पडगाहन—निमन्त्रण किये बिना) मुनि आहार के लिए नहीं पधारते। और पीछे श्रावक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार भक्ति से निर्दोष आहार मुनि के हाथ में देते हैं। (१- प्रतिग्रहण अर्थात् आदरपूर्वक निमन्त्रण, २- उच्च आसन, ३-पाद-प्रक्षालन, ४- पूजन-स्तुति, ५- प्रणाम, ६- मनशुद्धि, ७- वचनशुद्धि, ८- कायशुद्धि और ९-आहारशुद्धि—ऐसी नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक आहारदान दे।) जिस दिन मुनि के आहारदान का प्रसंग अपने आँगन में हो, उस दिन उस श्रावक के आनन्द का पार नहीं होता। श्रीराम और सीता जैसे भी जंगल में मुनि को भक्ति से आहारदान देते हैं, उस समय एक गृद्धपक्षी (-जटायु) भी उसे देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरणज्ञान होता है। श्रेयांसकुमार ने जब ऋषभमुनि को प्रथम आहारदान दिया, तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे।

यहाँ मुनि की उत्कृष्ट बात ली, उसी प्रकार अन्य साधर्मि श्रावक धर्मात्मा के प्रति भी आहारदान आदि का भाव धर्मी को होता है। ऐसे शुभभाव श्रावक की भूमिका में होते हैं, इसलिए उसे श्रावक का धर्म कहा है; तो भी उसकी मर्यादा कितनी?—कि पुण्यबन्ध हो इतनी; इससे अधिक नहीं। दान की महिमा का वर्णन करते हुए उपचार से ऐसा भी कहा है कि मुनि को आहारदान श्रावक को मोक्ष का कारण है,—वहाँ वास्तव में तो श्रावक को उस समय में जो पूर्णता लक्ष्य से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है, वही मोक्ष का कारण है; राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं—ऐसा समझना।

- * सब जीवों को सुख चाहिए।
- * पूर्ण सुख मोक्षदशा में है।
- * मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है।
- * यह रत्नत्रय निर्ग्रन्थ मुनि को होता है।
- * मुनि का शरीर आहारादि के निमित्त से टिकता है।
- * आहार का निमित्त गृहस्थ-श्रावक है।
- * इसलिए परम्परा से गृहस्थ मोक्षमार्ग का कारण है।

जिस श्रावक ने मुनि को भक्ति से आहारदान दिया, उसने मोक्षमार्ग टिकाया, ऐसा परम्परा निमित्त अपेक्षा से कहा है। परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शनसहित हैं, दोनों को राग का निषेध और पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव का आदर वर्तता है। आहारदान देनेवाले को भी सत्पात्र और कुपात्र का विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्य लिंगी को गुरु मानकर आदर करे, उसमें तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावक को तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का प्रेम है। सुख तो मोक्षदशा में है, ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे कहीं सुखबुद्धि नहीं है। रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि ऐसे मोक्षसुख को साध रहे हैं, इससे मोक्षाभिलाषी जीव को ऐसे मोक्षसाधक मुनि के प्रति परम उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है; वहाँ आहारदान आदि के प्रसंग सहज ही बन जाते हैं।

देखो, यहाँ तो श्रावक ऐसा है कि जिसे मोक्षदशा में ही सुख भासित हुआ है, संसार में अर्थात् पुण्य में—राग में—संयोग में कहीं सुख नहीं भासता। जिसे पुण्य में मिठास लगे, राग में सुख लगे, उसे मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति नहीं और मोक्षमार्गी मुनिवर के प्रति उसे सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो रागरहित है, उसे पहचाने बिना राग को सुख का कारण माने, उसे मोक्ष की अथवा मोक्षमार्गी सन्तों की पहचान नहीं है और पहचान बिना की भक्ति को सच्ची भक्ति नहीं कही जाती।

मुनि को आहार देनेवाले श्रावक का लक्ष्य मोक्षमार्ग पर है कि अहो! ये धर्मात्मा मुनिराज मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। वह मोक्षमार्ग के बहुमान से और उसकी पुष्टि की भावना से आहारदान देता है, इससे उसे मोक्षमार्ग टिकाने की भावना है और अपने में भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करने की भावना है, इसलिए कहा है कि आहारदान देनेवाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्ग प्रवृत्ति होती है। जैसे बहुत बार संघ जीमाने वाले को ऐसी भावना होती है कि इसमें कोई बाकी नहीं रहना चाहिए; क्योंकि इसमें कदाचित् कोई जीव तीर्थकर होनेवाला हो तो! इस प्रकार जीमाने में उसे अव्यक्तरूप से तीर्थकर आदि के बहुमान का भाव है। उसी प्रकार यहाँ मुनि को आहार देनेवाले श्रावक की दृष्टि मोक्षमार्ग पर है, आहार देऊँ और पुण्य बँधे—इस पर उसका लक्ष नहीं है। इसका एक दृष्टान्त आता है कि किसी ने भक्ति से एक मुनिराज को आहारदान दिया और उसके आँगन में रत्नवृष्टि हुई, दूसरा कोई लोभी

मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराज को आहारदान दूँ जिससे मेरे घर रत्नों की वृष्टि होगी।—देखो, इस भावना में तो लोभ का पोषण है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं होती; श्रावक को तो मोक्षमार्ग के पोषण की भावना है कि अहो! चैतन्य के अनुभव से जैसा मोक्षमार्ग मुनिराज साध रहे हैं, वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ—ऐसी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति की भावना उसे वर्तती है। इसलिए इस क्लिष्ट काल में भी प्रायः ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति है—ऐसा कहा जाता है।

अन्दर में शुद्धदृष्टि तो है, राग से पृथक् चैतन्य का वेदन हुआ है, वहाँ श्रावक को ऐसा शुभभाव आये, उसके फल से वह मोक्षफल को साधता है—ऐसा भी उपचार से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में उस समय अन्तर में जो राग से पार दृष्टि पड़ी है, वही मोक्ष को साध रही है। (प्रवचनसार गाथा २५४ में भी इसी अपेक्षा बात की है।) अन्तर्दृष्टि को समझे बिना मात्र राग से वास्तविक मोक्षप्राप्ति मान ले तो उसे शास्त्र के अर्थ की अथवा सन्तों के हृदय की खबर नहीं है; मोक्षमार्ग का स्वरूप वह नहीं जानता। यह अधिकार ही व्यवहार की मुख्यता से है; इसलिए इसमें तो व्यवहार—कथन होगा; अन्तर्दृष्टि को परमार्थ लक्ष्य में रखकर समझना चाहिए।

एक ओर जोरशोर से वज्रन देकर ऐसा कहा जाता है कि भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है, और यहाँ कहा कि आहार या शरीर के निमित्त से धर्म टिकता है—तो भी उसमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि पहला परमार्थ कथन है और दूसरा उपचार कथन है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिये हुए दान से चलती है, इसमें प्रायः शब्द यह सूचित करता है कि यह नियमरूप नहीं है, जहाँ शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिके, वहाँ आहारादि को निमित्त कहा जाता है—अर्थात् यह तो उपचार ही हुआ। शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिकता है—यह नियमरूप सिद्धान्त है, इसके बिना मोक्षमार्ग हो नहीं सकता।

सुख अर्थात् मोक्ष; आत्मा की मोक्षदशा ही सुख है, इसके अलावा मकान में, पैसे में, राग में—कहीं सुख नहीं है, धर्मी को आत्मा सिवाय कहीं सुखबुद्धि नहीं है। चैतन्य के बाहर किसी प्रवृत्ति में कहीं सुख है ही नहीं। आत्मा के मुक्तस्वभाव के अनुभव में सुख

है। सम्यग्दृष्टि ने ऐसी आत्मा का निश्चय किया है, उसके सुख का स्वाद चखा है और जो उग्र अनुभव द्वारा मोक्ष को साक्षात् साध रहे हैं, ऐसे मुनि के प्रति अत्यन्त उल्लास से और भक्ति से वह आहारदान देता है।

आनन्दस्वरूप आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता मोक्ष का कारण है और बीच के व्रतादि शुभ-परिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं। आत्मा के आनन्दसागर को उछालकर उसमें जो मग्न हैं, ऐसे नग्न-मुनि रत्नत्रय को साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देह के टिकने का कारण आहार है; इसलिए जिसने भक्ति से मुनि को आहार दिया, उसने मोक्षमार्ग दिया अर्थात् उसके भाव में मोक्षमार्ग टिकने का आदर हुआ। इस प्रकार भक्ति से आहारदान देनेवाला श्रावक इस दुष्काल में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का कारण है। धर्मात्मा-श्रावक ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्र को रोजाना भक्ति से दान देता है। अहो, मेरे घर कोई धर्मात्मा सन्त पधारे, ज्ञान-आनन्द का भोजन करनेवाले कोई सन्त मेरे घर पधारे, तो भक्ति से उन्हें भोजन दूँ—ऐसा भाव गृहस्थ-श्रावक को प्रतिदिन आता है। ऋषभदेव के जीव ने पूर्व के आठवें भव में मुनिवरों को परम-भक्ति से आहार दिया था और तिर्यचों ने भी उसका अनुमोदन करके उत्तम फल प्राप्त किया था, यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमार ने आदिनाथ मुनिराज को आहारदान दिया था।—ये सब प्रसंग प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार चार प्रकार के दान में से आहारदान की चर्चा की, अब दूसरे औषधि-दान का उपदेश देते हैं। ●●●

 * शुद्धस्वरूप का जहाँ सम्यक् निर्णय हुआ, वहाँ मोक्ष का दरवाजा खुल *
 * गया। गृहवास में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को भी आत्मदर्शन द्वारा मोक्ष का दरवाजा *
 * खुल गया है। जो शुद्ध स्वतत्त्व का उपादेयपना और समस्त परभावों का *
 * अनुपादेयपना—ऐसे भेदज्ञान के बल से मोक्षमार्ग को साध रहा है, ऐसे निर्मोही *
 * गृहस्थ को समन्तभद्रस्वामी ने प्रशंसनीय और 'मोक्षमार्गस्थ' कहा है। *
 * *****

***** [९] *****
*
*
*
*
*
*
*
*
*
*

औषधिदान का वर्णन

देखिये, यहाँ दान में सामने सत्पात्ररूप मुख्यतः मुनि को लिया है, अर्थात् धर्म के लक्ष्यपूर्वक दान की इसमें मुख्यता है। दान करनेवाले की दृष्टि मोक्षमार्ग पर लगी है। शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान के कपाट खोल रहे मुनिवर, देह के प्रति निर्मम होते हैं परन्तु श्रावक भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर निर्दोष आहार के साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं। मुनि को तो चैतन्य के अमृतसागर में आनन्द की लहरें उछली हैं, उन्हें ठण्ड-गर्मी अथवा देह की रक्षा का लक्ष्य कहाँ है।

श्रावक, मुनि आदि को औषधिदान देता है, यह कहते हैं—

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जातते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्र भारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥९ ॥

अर्थ : इच्छानुसार भोजन, भ्रमण तथा भाषण से शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियों के लिए न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है; इसलिए उनका शरीर सदा प्रायः अशक्त ही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर को चारित्र के पालन करने के लिए समर्थ बनाते हैं; इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है। अतः आत्मा के हित की अभिलाषा करनेवाले भव्य

जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिए ॥९॥

स्वेच्छाहार विहार वचन से रोग रहित रहती है देह ।
किन्तु साधु नहीं स्वेच्छाचारी अतः न सक्षम उनकी देह ॥
औषधि पथ्य सुनिर्मल जल से देह धरे चारित का भार ।
इसीलिये उत्तम श्रावक से हो मुनि धर्म प्रवृत्ति महान ॥९॥

इच्छानुसार आहार-विहार और सम्भाषण द्वारा शरीर निरोग रहता है, परन्तु मुनियों को तो इच्छानुसार भोजनादि नहीं होता; इसलिए उनका शरीर प्रायः अशक्त ही रहता है । परन्तु उत्तम गृहस्थ योग्य औषधि तथा पथ्य भोजन-पानी द्वारा मुनियों के शरीर को चारित्र पालन हेतु समर्थ बनाता है । इस प्रकार मुनिधर्म की प्रवृत्ति उत्तम श्रावक द्वारा होती है । अतः धर्मी गृहस्थों को ऐसे दानधर्म का पालन करना चाहिए ।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान के कपाट खोल रहे हैं, ऐसे मुनिराज शरीर से भी अत्यन्त उदासीन होते हैं, वे वन-जंगल में रहते हैं, ठण्ड में ओढ़ना अथवा गर्मी में स्नान करना उन्हें नहीं होता; रोगादि हो तो भी औषधि नहीं लेते; दिन में एकबार आहार लेते हैं, उसमें भी कभी ठण्डा आहार मिलता है; किसी समय तीव्र गर्मी में गरम आहार मिलता है, इस प्रकार इच्छानुसार आहार उनको नहीं मिलता; अतः मुनि को कई बार रोग-निर्बलता आदि हो जाती है, परन्तु ऐसे प्रसंग में धर्मात्मा उत्तम श्रावक, मुनि का ध्यान रखते हैं, उनको रोग इत्यादि हुआ हो तो उसे जानकर, आहार के साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं, तथा ऋतु अनुसार योग्य आहार देते हैं । इस प्रकार श्रावक भक्तिपूर्वक मुनि का ध्यान रखते हैं ।

यहाँ उत्कृष्टरूप से मुनि की बात ली है, इससे यह न समझना कि मुनि को छोड़कर अन्य जीवों को आहार अथवा औषध दान देने का निषेध है । श्रावक अन्य जीवों को भी उनकी भूमिका के योग्य आदर से अथवा करुणाबुद्धि से योग्य दान दे, परन्तु धर्मप्रसंग की मुख्यता है, वहाँ धर्मात्मा को देखते ही विशेष उल्लास आता है । मुनि उत्तम पात्र हैं, इस कारण उनकी मुख्यता है ।

अहो ! मुनिदशा क्या है—उसकी जगत को खबर नहीं है । छोटा-सा राजकुमार हो

और मुनि होकर चैतन्य को साधता हो, चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन जिसको प्रगट हुआ हो, ऐसे मुनि देह से तो अत्यन्त उदासीन हैं ।

**सर्व भावथी औदासिन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो ।**

चाहे जितनी ठण्ड हो परन्तु देह सिवाय अन्य परिग्रह जिन्हें नहीं । बाह्यदृष्टिवाले जीवों को लगता है कि ऐसे मुनि बहुत दुःखी होंगे । अरे भाई ! उनके अन्तर में तो आनन्द की धाराएँ बहती हैं—कि जिस आनन्द की कल्पना भी तुझे नहीं आ सकती । चैतन्य के इस आनन्द की अभिलाषा में सर्दी-गर्मी का लक्ष्य ही कहाँ है ? जिस प्रकार मध्यबिन्दु से सागर उछलता है; उसी प्रकार चैतन्य के अन्तर के मध्य में से मुनि को आनन्द की लहरें उछलती हैं । ऐसे मुनि को रोगादि हो तो भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर उत्तम गृहस्थ पथ्य आहार के साथ योग्य औषधि भी देते हैं—इसका नाम साधु वैयावृत्य है; वह गुरुभक्ति का एक प्रकार है ।

श्रावक के कर्तव्य में पहले देव-पूजा और दूसरी गुरु उपासना कही, उसमें इस प्रकार के भाव श्रावक को होते हैं । मुनि स्वयं तो बोलते नहीं कि मुझे ऐसा रोग हुआ है, अतः ऐसी खुराक अथवा ऐसी दवा दो, परन्तु भक्तिवान श्रावक इसका ध्यान रखते हैं ।

देखो ! इसमें मात्र शुभराग की बात नहीं, परन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा और सम्यग्दर्शन कैसे हो, वह पहले बताया गया है, ऐसी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म की यह बात है । जहाँ श्रद्धा ही सच्ची नहीं और कुदेव, कुगुरु का सेवन होता है, वहाँ तो श्रावकधर्म नहीं होता । श्रावक को मुनि आदि धर्मात्मा के प्रति कैसा प्रेम होता है, वह यहाँ बताना है ।

जिस प्रकार अपने शरीर में रोगादि होने पर दवा करवाने का राग होता है; उसी प्रकार मुनि इत्यादि धर्मात्मा के प्रति भी धर्मी को वात्सल्यभाव से औषधिदान का भाव आता है । गृहस्थ प्यारे पुत्र को रोगादि होने पर उसका कैसे ध्यान रखते हैं ! तो धर्मी को तो सबसे प्रिय मुनि आदि धर्मात्मा हैं; उनके प्रति उसे आहारदान-औषधिदान-शास्त्रदान इत्यादि का भाव आये बिना नहीं रहता ।

यहाँ कोई दवा से शरीर अच्छा रहता है अथवा शरीर से धर्म टिकता है—ऐसा

सिद्धान्त नहीं स्थापना है, परन्तु धर्मी को राग किस प्रकार होता है, वह बताना है। जिसे धर्म की अपेक्षा संसार की ओर का प्रेम अधिक रहे, वह धर्मी कैसा ? संसार में जीव स्त्री-पुत्र आदि की वर्षगाँठ, लग्न-प्रसंग आदि के बहाने राग की पुष्टि करता है;—वह तो अशुभभाव है तो भी पुष्टि करता है, तो जिसे धर्म का रंग है, वह धर्मी के जन्मकल्याणक, मोक्षकल्याणक, कोई यात्रा-प्रसंग, भक्ति-प्रसंग, ज्ञान-प्रसंग—आदि के बहाने धर्म का उत्साह व्यक्त करता है। शुभ के अनेक प्रकारों में औषधिदान का प्रकार श्रावक को होता है, उसकी बात की। अब तीसरा ज्ञानदान है, उसका वर्णन करते हैं। ●●●

जैन का निर्दोष मार्ग

सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को सिद्ध समान अपना शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान एवं स्वानुभव में स्पष्ट हो जाता है; तब से उसकी गति-परिणति विभावों से विमुख होकर सिद्धपद की ओर चलने लगी, वह मोक्षमार्गी हुआ। पश्चात् ज्यों-ज्यों शुद्धता और स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट होता है। श्रावकपना तथा मुनिपना तो आत्मा की शुद्धदशा में रहते हैं, वह कोई बाहर की वस्तु नहीं है। जैनधर्म में तीर्थंकरदेव ने मोक्षमार्ग कैसा कहा है, उसकी खबर न हो और विपरीतमार्ग में जहाँ-तहाँ मस्तक झुकता हो—ऐसे जीव को जैनत्व नहीं होता। जैन हुआ, वह जिनवरदेव के मार्ग के सिवा अन्य को स्वप्न में भी नहीं मानता।

कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसे विकार या कर्म का कोई सम्बन्ध है ही नहीं—तो वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध है परन्तु पर्याय में उसे विकार भी है, वह विकार अपनी भूल से है और स्वभाव की प्रतीति द्वारा वह दूर हो सकता है तथा शुद्धता हो सकती है। विकारभाव में अजीवकर्म निमित्त हैं, विकार टलने पर वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त—इन सबका ज्ञान बराबर करना चाहिए। उन्हें जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

***** [१०] *****
*
* ज्ञानदान अथवा शास्त्रदान का वर्णन *
*

*
* कुन्दकुन्दाचार्य के जीव ने पूर्व में ग्वाले के भव में भक्तिपूर्वक मुनि *
* को शास्त्र दिया था—वह उदाहरण शास्त्रदान के लिए प्रसिद्ध है। देखो, *
* इस ज्ञानदान की बड़ी महिमा है। जिसने सच्चे शास्त्र की पहचान की है और *
* स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, उस गुरुवाणी का जगत में प्रचार हो और *
* जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ज्ञान के बहुमानपूर्वक शास्त्रदान *
* द्वारा ज्ञान का बहुत क्षयोपशम-भाव प्रगट होता है। *
*

ज्ञानदान की महिमा और उसका महान फल केवलज्ञान बताते हैं—

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नत्तधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्य-लोकोत्सवः
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥१०॥

अर्थ : सर्वज्ञ देव से कहे हुए शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशाल बुद्धिवाले भव्यजीवों को पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती हैं, उसको ज्ञानी पुरुष, शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर थोड़े ही भवों में, तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करनेवाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखनेवाले, केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥१०॥

बुद्धिमान भव्यों को पुस्तक देना एवं श्रुत व्याख्यान ।
 भक्तिपूर्वक करना पण्डित कहते इसको ज्ञान प्रदान ॥
 इसके होने पर भविजन कुछ भव में पाते केवलज्ञान ।
 जिससे उत्सव हो त्रिभुवन में जगत प्रकाशित सूर्य समान ॥१० ॥

सर्वज्ञदेव के कहे हुए शास्त्रों का भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना तथा विशाल बुद्धिवाले जीवों को स्वाध्याय हेतु पुस्तक देना, उसे ज्ञानीजन शास्त्रदान या ज्ञानदान कहते हैं। ऐसे ज्ञानदान का फल क्या? तो कहते हैं कि ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव थोड़े ही भवों में, तीन लोक को आनन्दकारी अर्थात् समवसरण आदि लक्ष्मी को करनेवाली, और लोक के समस्त पदार्थों को हस्तरेखा समान देखनेवाली ऐसी केवलज्ञानज्योति प्राप्त करता है; अर्थात् तीर्थकरपद सहित केवलज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान की आराधना का जो भाव है, उसके फल में केवलज्ञान प्राप्त होता है और बीच में ज्ञान के बहुमान का, धर्म के बहुमान का जो शुभभाव है, उससे तीर्थकर-पद आदि मिलता है। इसलिए अपने हित को चाहनेवाले श्रावक को हमेशा ज्ञानदान करना चाहिए।

देखो, इस ज्ञानदान की महिमा! सच्चे शास्त्र कौन हैं, उनकी जिसने पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, उसे ऐसा भाव आता है कि अहो! ऐसी जिनवाणी का जगत में प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ऐसी ज्ञान-प्रचार की भावनापूर्वक स्वयं शास्त्र लिखे, लिखावे, पढ़े, प्रसिद्ध करे; लोगों को सरलता से शास्त्र मिलें, ऐसा करे—ऐसे ज्ञानदान का भाव धर्मी जीव को आता है; धर्म-जिज्ञासु को भी ऐसा भाव आता है।

ज्ञानदान में स्वयं ज्ञान का बहुमान पुष्ट होता है। वहाँ किसी सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि वह तीर्थकर होता है और समवसरण में दिव्यध्वनि खिरती है, इस दिव्यध्वनि को झेलकर बहुत से जीव धर्म प्राप्त करते हैं! 'अभीक्षण ज्ञानोपयोग' अर्थात् ज्ञान के तीव्र रस से बारम्बार उसमें उपयोग लगाना, उसे भी तीर्थकर-प्रकृति का कारण कहा है, परन्तु ऐसे भाव वास्तव में किसे होते हैं? ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो अर्थात् स्वयं धर्म प्राप्त किया हो, उसे ही ज्ञानदान या अभीक्षण ज्ञानोपयोग यथार्थरूप से होता है। जिसने सच्चा मार्ग जान लिया है, ऐसे श्रावक के धर्म की

यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना तो व्रत-दान आदि शुभ करते हुए भी वह अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ तो भेदज्ञान प्रगट कर जो मोक्षमार्ग में आरूढ़ है, ऐसे जीव की बात है। जिसने स्वयं ही ज्ञान नहीं पाया, वह अन्य को ज्ञानदान क्या करेगा? ज्ञान के निर्णय बिना शास्त्र आदि के बहुमान से पुस्तक आदि का दान करे, उसमें मोक्षमार्गरहित पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ श्रावकधर्म में तो मोक्षमार्गसहित दानादि की प्रधानता है; अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो प्रथम करनी चाहिए, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता।

ज्ञानदान—शास्त्रदान करनेवाले श्रावक को सत्शास्त्र और कुशास्त्र के बीच विवेक है। सर्वज्ञ की वाणी झेलकर गणधरादि सन्तों द्वारा रचे हुए वीतरागी शास्त्रों को पहिचान कर उनका दान और प्रचार करे परन्तु मिथ्यादृष्टियों के रचे हुए, तत्त्वविरुद्ध, कुमार्ग का पोषण करनेवाले ऐसे कुशास्त्रों को वह नहीं माने, उनका दान या प्रचार नहीं करे। अनेकान्तमय सत्शास्त्र को पहचानकर उनका ही दानादि करे।

संयोग और अशुद्धता की रुचि छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि-रुचि-प्रीति करना, वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्म की पहली वस्तु है, उसके बिना पुण्य बँधता है परन्तु कल्याण नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता। पुण्य की रुचि में रुका, पुण्य के विकल्प में कर्तृत्वबुद्धि से तन्मय होकर रुका, उसे पुण्य के साथ-साथ मिथ्यात्व का पाप भी बँधता है। पण्डित श्री टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अध्याय में कहते हैं—‘जैनधर्म में तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़कर पीछे छोटा पाप छोड़ने में आता है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सात व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छोड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरता हो और निज के आत्मा को दुःख-समुद्र में डुबाना न चाहता हो, वह जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़े। निन्दा-प्रशंसा आदि के विचार से भी शिथिल होना योग्य नहीं है।’

कोई कहे कि सम्यक्त्व तो बहुत ऊँची भूमिका में होता है, पहले तो व्रत-संयम होना चाहिए, तो उसे जिनमत के क्रम की खबर नहीं है। ‘जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है, कि पहले सम्यक्त्व हो, पीछे व्रत हो।’ (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२५) ‘मुनिपद लेने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, पीछे उदासीन परिणाम हो, परिषहादि सहन करने की शक्ति हो और वह स्वयं की प्रेरणा से ही मुनि होना चाहे, तब श्रीगुरु उसे मुनिधर्म

अंगीकार करावें। परन्तु यह तो किस प्रकार की विपरीतता है कि तत्त्वज्ञानरहित और विषयासक्त जीव को माया द्वारा लोभ बताकर मुनिपद देकर, पीछे से अन्यथा प्रवृत्ति करानी!— यह तो बड़ा अन्याय है।’—दो सौ वर्ष पूर्व पण्डित टोडरमलजी का यह कथन है।

बन्ध के पाँच कारणों में मिथ्यात्व सबसे मुख्य कारण है। मिथ्यात्व छोड़े बिना अव्रत अथवा कषाय आदि नहीं छूटते। मिथ्यात्व छूटते ही अनन्त बन्धन एक क्षण में टूट जाते हैं। जिसे अभी मिथ्यात्व छोड़ने की तो इच्छा नहीं, उसे अव्रत कहाँ से छूटेंगे? और व्रत कहाँ से आवेंगे? आत्मा क्या है, उसकी जिसे खबर नहीं, वह किसमें स्थिर रहकर व्रत करेगा। चिदानन्दस्वरूप के अनुभव होने के पश्चात् उसमें कुछ विशेष स्थिरता करते हैं, तो दो कषायों की चौकड़ी के अभावरूप पंचम गुणस्थान प्रगट होता है और उसे सच्चे व्रत होते हैं। ऐसे श्रावकधर्म के उद्योत का यह अधिकार है।

सम्यग्दर्शन बिना क्लेश (आनन्द नहीं, किन्तु क्लेश) सहन करके मर जाए तो भी भव घटने के नहीं। समयसार-कलश टीका, पृष्ठ १२६ में पण्डित राजमलजी कहते हैं कि—‘शुभक्रिया परम्परा से—आगे जाकर मोक्ष का कारण होगी—ऐसा अज्ञानी को भ्रम है। हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म-परिग्रह इनसे रहितपना, तथा महान परीषहों का सहना—इसके बड़े बोझ से, बहुत काल तक मरकर चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, परन्तु इसके द्वारा कर्मक्षय तो नहीं होता।’ अज्ञानी की यह सब क्रिया तो कष्टरूप है, दुःखरूप है, शुद्धस्वरूप के अनुभव की तरह यह कोई सुखरूप नहीं। अनुभव का जो परम आनन्द है, उसकी गन्ध भी शुभराग में नहीं है। ऐसे शुभराग को कोई मोक्ष का कारण माने—परम्परा से भी इस राग को मोक्ष कारण होना माने तो कहते हैं वह झूठा है, भ्रम में है। मोक्ष का कारण यह नहीं है; मोक्ष का कारण तो शुद्धस्वरूप का अनुभव है।

प्रश्न—चौथे काल में शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण भले हो, परन्तु इस कठिन पंचम काल में तो राग, मोक्ष का कारण होगा न?

उत्तर—पंचम काल में हुए मुनि पंचम काल के जीवों को यह बात समझाते हैं। चौथे काल का धर्म जुदा और पंचम काल का धर्म जुदा-ऐसा नहीं है। धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग तीनों काल में एक ही प्रकार का है। जब और जहाँ, जो कोई जीव मोक्ष प्राप्त करेगा,

वह राग को छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव से ही प्राप्त करेगा। चाहे किसी भी क्षेत्र में, कोई भी जीव राग द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, ऐसा नियम है।

प्रथम जिसने मोक्षमार्ग के ऐसे स्वरूप का निर्णय किया है और सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में उसका अंश प्रगट किया है, उसे बाद में राग की मन्दता के कौन से प्रकार होते हैं, उनके कथन में चार प्रकार के दान की बात चल रही है। मुनि आदि धर्मात्मा के प्रति भक्ति से आहारदान-औषधिदान के पश्चात् शास्त्रदान का भाव भी श्रावक को आता है। उसे वीतरागी शास्त्रों का बहुत विनय और बहुमान होता है; वीतरागी ज्ञान की प्रभावना कैसे हो, इसके लिए वह अपनी शक्ति लगाता है। इसमें अन्य जीव समझें या न समझें, उसकी मुख्यता नहीं, परन्तु धर्मी को अपने सम्यग्ज्ञान का बहुत प्रेम है, उसकी मुख्यता है; अर्थात् अन्य जीव भी सच्चा तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त करें, वैसी भावना धर्मी को होती है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्रों का रहस्य स्वयं जानकर अन्य को उसे समझाना और भक्ति से उसका प्रचार करना, वह ज्ञानदान है। अन्तर में तो स्वयं ने स्वयं को सम्यग्ज्ञान का दान दिया और बाह्य में अन्य जीव भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और भवदुःख से छूटें—ऐसी भावना धर्मी को होती है। शास्त्रदान के बहाने अन्य को समझाने अथवा प्रचार करने के बहाने अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा बड़प्पन की भावना हो तो वह पाप है। धर्मी को ऐसी भावना नहीं होती। धर्मात्मा तो कहता है कि अरे, हमारी ज्ञानचेतना से हमारा कार्य हमारी आत्मा में हो रहा है, वहाँ बाहर अन्य को बताने का क्या काम है? अन्य जीव जाने तो उसे सन्तोष हो, ऐसा नहीं; उसे तो अन्तर में आत्मा से ही सन्तोष है।

‘स्वयं एकाकी अन्तर में अपनी आत्मा का कल्याण कर ले, वह बड़ा अथवा बहुत से जीवों को समझावे, वह बड़ा?’—अरे भाई! अन्य समझें या न समझें उसके साथ इसको क्या सम्बन्ध? कदाचित् अन्य बहुत से जीव समझे तो भी उस कारण से इसे जरा भी लाभ हुआ हो, ऐसा नहीं है और धर्मी को कदाचित् वाणी का योग कम हो (—मूक केवली भगवान की तरह वाणी का योग न भी हो) तो उससे कोई उसके अन्तर का लाभ रुक जावे, ऐसा नहीं है। बाह्य में अन्य जीव समझें, इससे धर्मी का जो माप करना चाहते हैं, उन्हें धर्मी की अन्तर दशा की पहचान नहीं है।

यहाँ ज्ञानदान में तो यह बात है कि स्वयं को ऐसा भाव होता है कि अन्य जीव भी सच्चे ज्ञान को प्राप्त करें, परन्तु अन्य जीव समझें या न समझें, यह उनकी योग्यता पर है, उनके साथ इसे कोई लेना-देना नहीं है। स्वयं को पहले अज्ञान था और महादुःख था, वह दूर होकर स्वयं को सम्यग्ज्ञान हुआ और अपूर्व सुख प्रगट हुआ अर्थात् स्वयं को सम्यग्ज्ञान की महिमा भासी है, इससे अन्य जीव भी ऐसे सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हों तो उनका दुःख मिटे और सुख प्रगटे—इस प्रकार धर्मी को अन्तर में ज्ञान की प्रभावना का भाव आता है और साथ में उसी समय अन्तर में शुद्धात्मा की भावना से ज्ञान की प्रभावना—उत्कृष्ट भावना और वृद्धि अन्तर में हो रही है।

देखो, यह श्रावक की दशा! ऐसी दशा हो, तभी जैन को श्रावकपना कहलाता है, और मुनिदशा तो उसके पश्चात् होती है। उसने सर्वज्ञ का और सर्वज्ञ की वाणी का स्वयं निर्णय किया है। जिसे स्वयं निर्णय नहीं, वह सच्चे ज्ञान की क्या प्रभावना करेगा? यह तो अपने ज्ञान में निर्णयसहित धर्मात्मा की बात है। और धर्मात्मा को, विशेष बुद्धिमान को बहुमानपूर्वक शास्त्र देना, वह भी ज्ञानदान है। शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझना, प्रसिद्ध करना, वह भी ज्ञानदान का भेद है। किसी साधारण मनुष्य को ज्ञान का विशेष प्रेम हो और उसे शास्त्र न मिलते हों तो धर्मी उसे प्रेमपूर्वक प्रबन्ध कर दे—ऐसा भाव धर्मी को आता है।

अपने पास कोई शास्त्र और दूसरे के पास न हो वहाँ, अन्य पड़ेगा तो मुझसे आगे बढ़ जाएगा, मेरा समझना कम हो जावेगा—ऐसी ईर्ष्यावश या मानवश, शास्त्र पढ़ने को मांगे और वह न दे—ऐसे जीव को ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं। भाई! अन्य जीव ज्ञान में आगे बढ़ता हो तो भले बढ़े; तुझे उसका अनुमोदन करना चाहिए। तुझे ज्ञान का प्रेम हो तो, अन्य भी ज्ञान प्राप्त करें, इसमें अनुमोदन होगा या ईर्ष्या? अन्य के ज्ञान की यदि ईर्ष्या आती है तो तुझे शास्त्र पढ़-पढ़कर मान का पोषण करना है, तुझे ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं है। ज्ञान प्रेमी को अन्य के ज्ञान की ईर्ष्या नहीं होती परन्तु अनुमोदना होती है।

एक जीव बहुत समय से मुनि हो, दूसरा जीव पीछे से अभी ही मुनि हुआ हो और

शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त कर ले, वहाँ पहले मुनि को ऐसी ईर्ष्या नहीं होती कि अरे, अभी तो आज ही दीक्षा ली और मुझसे पहले इसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ! परन्तु उलटकर अनुमोदना आती है कि वाह ! धन्य है कि इसने केवलज्ञान साध लिया, मुझे भी यही इष्ट है, मुझे भी यही करना है.. इस प्रकार अनुमोदना द्वारा अपने पुरुषार्थ को जागृत करता है। ईर्ष्या करनेवाला तो अटकता है और अनुमोदना करनेवाला अपने पुरुषार्थ को जागृत करता है।

अपने अन्तरंग में जहाँ ज्ञानस्वभाव का बहुमान है, वहाँ राग के समय ज्ञान की प्रभावना का और अनुमोदना का भाव आये बिना नहीं रहता। ज्ञान के बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समय में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। राग का फल केवलज्ञान नहीं परन्तु ज्ञान के बहुमान का फल केवलज्ञान है और साथ में शुभराग से जो उत्तम पुण्यबन्ध है, उसके फल में समवसरण आदि की रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेंगे। अभी यहाँ चाहे किसी को खबर न हो परन्तु केवलज्ञान होते ही तीन लोक में आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र महोत्सव करेंगे और तीन लोक में आनन्द होगा।

अहो ! यह तो वीतरागमार्ग है !! वीतराग का मार्ग तो वीतराग ही होता है न ? वीतरागभाव की वृद्धि हो, यही सच्ची मार्गप्रभावना है। राग को जो आदरणीय बतावे, वह जीव वीतरागमार्ग की प्रभावना कैसे कर सकता है ? उसे तो राग की ही भावना है। जैनधर्म के चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगों का प्रचार करे। प्रथमानुयोग में तीर्थकरादि महान धर्मात्माओं के जीवन की कथा, चरणानुयोग में उनके आचरण का वर्णन, करणानुयोग में गुणस्थान आदि का वर्णन और द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का वर्णन—इन चार प्रकार के शास्त्रों में वीतरागता का तात्पर्य है। इन शास्त्रों का बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे। जवाहरात के गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदि को कैसे प्रेम से घर में सम्भालकर रखते हैं,—इसकी अपेक्षा विशेष प्रेम से शास्त्रों को घर में विराजमान करे और सजा करके उनका बहुमान करे।—यह सब ज्ञान का ही विनय है।

शास्त्रदान के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दस्वामी के पूर्वभव की कथा प्रसिद्ध है, पूर्वभव

में वे एक सेठ के यहाँ गायों के ग्वाल थे। एकबार उस ग्वाले को वन में कोई शास्त्र मिला; उसने अत्यन्त बहुमानपूर्वक किन्हीं मुनिराज को वह शास्त्रदान किया। उस समय अव्यक्तरूप से ज्ञान की अचिन्त्य महिमा का कोई भाव पैदा हुआ, इससे वे उस सेठ के घर ही जन्मे; छोटी उम्र में ही मुनि हुए और ज्ञान का अगाध समुद्र उनको उल्लसित हुआ। अहा! उन्होंने तो तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यवाणी साक्षात् सुनी और भरतक्षेत्र में ज्ञान की लहर चलायी। इनके अन्तर में ज्ञान की बहुत शुद्धि प्रगट हुई और बाह्य में भी श्रुत की महान प्रतिष्ठा इस भरतक्षेत्र में उन्होंने की। अहा! उनके निजवैभव की क्या बात! ज्ञानदान से अर्थात् ज्ञान के बहुमान के भाव से ज्ञान का क्षयोपशमभाव खिलता है और यहाँ तो उसका उत्कृष्ट फल बतलाते हुए कहते हैं कि वह जीव थोड़े भव में केवलज्ञान प्राप्त करेगा, उसे समवसरण की शोभा की रचना होगी और तीन लोक के जीव उसका उत्सव मनावेंगे। क्योंकि ज्ञानानन्दस्वभाव की आराधना साथ में वर्तती है अर्थात् आराधकभाव की भूमिका में ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है। उसमें धर्मी का लक्ष्य ज्ञानस्वभाव की आराधना पर है, राग अथवा पुण्य पर उसका लक्ष्य नहीं है, वह तो बीच में अनाज के साथ के भूसे की तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानस्वभाव की आराधना से धर्मी जीव सर्वज्ञपद को साधता है। उसे किसी समय ऐसा भी होता है कि अरे! हम भगवान के पास होते; भगवान की वाणी सुनते और भगवान से प्रश्नों का सीधा समाधान लेते; अब भरतक्षेत्र में भगवान का विरह हुआ, किनसे प्रश्न पूछूँ और कौन समाधान करे? धर्मात्मा को सर्वज्ञ परमात्मा के विरह का ऐसा भाव आता है। भरत चक्रवर्ती जैसे को भी, ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे, तब ऐसा विरह का भाव आया था। अन्तरंग में निज के पूर्ण ज्ञान की भावना है कि अरे! इस पंचम काल में अपने सर्वज्ञ पद का हमको विरह! अर्थात् निमित्त में भी सर्वज्ञ का विरह सताता है। इस भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्द प्रभु को विचार आया—अरे नाथ! पंचम काल में इस भरतक्षेत्र में आपका बिछोह हुआ, सर्वज्ञता का विरह हुआ... इस प्रकार सर्वज्ञ के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हुआ और उनका चिन्तन करने लगे। वहाँ पुण्य का योग था और पात्रता भी विशेष थी, इसलिए सीमन्धर भगवान के पास जाने का योग बना। अहा! भरतक्षेत्र का मनुष्य, शरीरसहित विदेहक्षेत्र गया और भगवान से मिलाप हुआ। भगवान की दिव्यध्वनि साक्षात् श्रावण की और उन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की धारा बहायी। उन्हें आराधकभाव का विशेष जोर

और साथ में पुण्य का भी महान योग था। उन्होंने तो तीर्थकर जैसा कार्य किया है।

आराधक का पुण्य लोकोत्तर होता है। तीर्थकर के जीव को गर्भ में आने के छह महीने की देर हो, अभी तो वह जीव (श्रेणिक आदि कोई) नरक में हो अथवा स्वर्ग में हो; इधर तो इन्द्र-इन्द्राणी आकर उनके माता-पिता का बहुमान करते हैं कि धन्य रत्नकूँखधारिणी माता! छह महीने पश्चात् आपकी कूँख में तीन लोक के नाथ तीर्थकर आनेवाले हैं!— ऐसा बहुमान करते हैं, और जहाँ उनका जन्म होनेवाला हो, वहाँ प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि करते हैं। छह मास पूर्व नरक में भी उस जीव को उपद्रव शान्त हो जाते हैं। तीर्थकर-प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होगा तब आवेगा, परन्तु उससे पूर्व उसके साथ ऐसा पुण्य होता है। (यहाँ उत्कृष्ट पुण्य की बात है; सभी आराधक जीवों को ऐसा पुण्य होता है—ऐसा नहीं, परन्तु तीर्थकर होनेवाले जीव को ही ऐसा पुण्य होता है।) यह सब तो अचिन्त्य बात है। आत्मा का स्वभाव भी अचिन्त्य और उसका जो आराधक हुआ, उसका पुण्य भी अचिन्त्य! ऐसी आत्मा के लक्ष्य से श्रावक-धर्मात्मा ज्ञानदान करता है, उसमें उसे राग का निषेध है और ज्ञान का आदर है, इसलिए वह केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थकर होगा, तीन लोक के जीव उसका उत्सव मनावेंगे और उसकी दिव्यध्वनि से धर्म का निर्मल मार्ग चलेगा।

इस प्रकार ज्ञानदान का वर्णन किया। ●●●

 * मुनिराज के हृदय में एक आत्मा ही विराजता है। उनका सर्व प्रवर्तन *
 * आत्मामय ही है। आत्मा के आश्रय से बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है। घोर जंगल हो, *
 * घनी झाड़ी हो, सिंह-व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर *
 * अन्धकार व्याप्त हो, वहाँ गिरिगुफा में मुनिराज बस अकेले चैतन्य में ही मस्त *
 * होकर निवास करते हैं। आत्मा में से बाहर आयें तो श्रुतादि के चिन्तवन में चित्त *
 * लगता है और फिर अन्तर में चले जाते हैं। स्वरूप के झूले में झूलते हैं। मुनिराज *
 * को एक आत्मलीनता का ही काम है। अद्भुत दशा है! — वचनमृत से *

शास्त्रदान से अज्ञान का भय दूर होता है—इस प्रकार इन तीनों दानों से भी जीवों को अभय ही देने में आता है; इसलिए सब दानों में अभयदान ही एक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है।

अति करुणावन्तों द्वारा जो प्राणी रक्षा की जाती।
 अभयदान है यही बिना इसके निष्फल हैं दान सभी ॥
 आहारौषध शास्त्र दान से क्षुधा रोग अरु जड़ता का।
 भय होता है नष्ट अतः यह अभयदान उत्कृष्ट कहा ॥११ ॥

धर्मीजीव अपनी आत्मा में जिस प्रकार सम्यग्दर्शनादि द्वारा दुःख दूर करने का उपाय करता है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी दुःख न हो, उनका दुःख मिटे, ऐसे करुणा के भाव उसे होते हैं। जीवदया भी जिसे न हो, उसका तो एक भी दान सच्चा नहीं होता। किसी जीव को मारने की अथवा दुःख देने की वृत्ति, धर्मी को नहीं होती; सब जीवों के प्रति करुणा होती है। दुःखी जीवों के प्रति करुणापूर्वक पात्र अनुसार आहार, औषध अथवा ज्ञान आदि देकर उनका भय मिटाता है। देखो, ऐसे करुणा के परिणाम, श्रावक को सहज ही होते हैं।

सच्चा अभयदान तो उसे कहते हैं कि जिससे भवभ्रमण का दुःख टले और आत्मा निर्भयरूप से सिद्ध के पन्थ की ओर अग्रसर हो। अज्ञान और मिथ्यात्व ही जीव के लिये सबसे बड़ा भय और दुःख का कारण है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर वह भय दूर होकर आत्मा अभयपना प्राप्त करता है; इसलिए जीवों को सम्यग्ज्ञान के मार्ग में लगाना ही बड़ा अभयदान है। इसलिए भगवान को भी अभयदाता (अभयदयाणम्) कहा जाता है।

भगवान और सन्त कहते हैं कि हे जीव! तू अपने स्वरूप को पहचानकर निर्भय हो! शंका का नाम भय है; जिसको स्वरूप में शंका है, उसे मरण आदि का भय कभी नहीं मिटता। सम्यग्दृष्टि जीव ही निःशंक होने से निर्भय हैं, उन्हें मरण आदि सात प्रकार के भय नहीं होते। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—

सम्यक्त्ववन्त जीव निःशंकित उससे हैं निर्भय खरे,
 और सप्त भय प्रविमुक्त हैं जिससे उस हेतु निःशंक हैं ॥

स्वरूप की भ्रान्ति दूर हुई, वहाँ भय दूर हो गया। शरीर ही मैं नहीं, मैं तो शाश्वत

ज्ञानमय आत्मा हूँ, तब मेरा मरण कैसा ? और मरण ही नहीं, फिर मरण का भय कैसा ? मिथ्यात्व में मरण का भय था; मिथ्यात्व दूर हुआ, वहाँ मरणादि का भय मिटा। इसके अतिरिक्त रोगादि का अथवा सिंह-बाघ का भय थोड़े समय के लिये चाहे मिट जावे परन्तु जब तक यह भय न मिटे, तब तक जीव को सच्चा सुख नहीं होता—इस प्रकार ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई ! तू तो ज्ञानस्वरूप है; इस देह का जन्म-मरण वह वास्तव में तेरा स्वरूप नहीं; अज्ञान से तूने देह को अपना मानकर उसमें सुख की कल्पना की है, इससे तुझे रोग का, क्षुधा का, मरणादि का भय लगता है, परन्तु देह से भिन्न वज्र जैसा तेरा ज्ञानस्वरूप है, वह निर्भय है, उसे अन्तर में देखने से पर सम्बन्धी कोई भय तुझे नहीं रहेगा—इस प्रकार नित्य अभयस्वरूप समझाकर ज्ञानी सच्चा अभयदान देता है, उसमें सब दान समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो जीव ऐसी समझने की योग्यतावाले न हों, ऐसे दुःखी जीवों पर भी श्रावक करुणा करके जिस प्रकार उनका भय कम हो उस प्रकार उन्हें आहार, औषध आदि का दान देता है। अपनी आत्मा का भय दूर हुआ है और अन्य को अभय देने का शुभभाव आता है, ऐसी श्रावक की भूमिका है। अपना ही भय जिसने दूर नहीं किया, वह अन्य का भय कहाँ से मिटावेगा ? अज्ञानी को जो करुणाभाव आता है, दान का भाव आता है, उसमें उसे भी शुभभाव है, परन्तु ज्ञानी जैसे उत्तम प्रकार का भाव उसे नहीं होता।

देखो, कितने ही जीव असंयमी जीवों के प्रति दया-दान के परिणाम को पाप बतलाते हैं, यह तो अत्यन्त विपरीतता है। भूखे को कोई खिलावे, प्यासे को पानी पिलावे, दुष्काल हो, गायें घास के बिना मरती हों और कोई दयाभाव से उन्हें घास आदि खिलावे तो उससे कोई पाप नहीं है; उसके भाव दया के हैं, वे पुण्य के कारण हैं। जीव दया के भाव में पाप बतावे, वह तो बहुत बड़ी विपरीतता है। धर्म वस्तु तो अभी पृथक् है, परन्तु उसे तो पुण्य और पाप के बीच का भी विवेक नहीं है।

इसी प्रकार कोई जीव पंचेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करके उसमें धर्म मनाता है—वह तो महान पापी है। ऐसे हिंसामार्ग को जिज्ञासु कभी ठीक नहीं मानते। एक भी जीव को मारने का अथवा दुःखी करने का भाव धर्मी श्रावक को नहीं होता। अरे, वीतरागमार्ग को साधने आया, उसके परिणाम तो कितने कोमल होते हैं। पद्मनन्दिस्वामी

कहते हैं कि—मेरे निमित्त से किसी प्राणी को दुःख न हो। किसी को मेरी निन्दा से अथवा मेरे दोष देखने से सन्तोष होता हो तो इस प्रकार भी वह सुखी होवे; किसी को इस देह नाश की इच्छा हो तो वह यह देह लेकर भी सुखी होवे।—अर्थात् हमारे निमित्त से किसी को भय न हो; दुःख न हो। अर्थात् हमें किसी के प्रति द्वेष अथवा क्रोध न हो... इस प्रकार स्वयं अपने वीतरागभाव में रहना चाहते हैं। यहाँ तो चारित्रवन्त मुनि की मुख्यता से बात है, उसमें गौणरूप से श्रावक भी आ जाता है, क्योंकि श्रावक को भी अपनी भूमिका अनुसार ऐसी ही भावना होती है। सामने का जीव स्वयं अपने गुण-दोष के कारण अभयपना प्राप्त करे अथवा न करे—यह वस्तु उसके आधीन है, परन्तु यहाँ ज्ञानी को अपने भाव में सब जीवों को अभय देने की वृत्ति है। हमारा कोई शत्रु नहीं, हम किसी के शत्रु नहीं—ऐसी भावना में ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी कषाय का पूर्ण अभाव है। तत्पश्चात् अन्य राग-द्वेष आदि की भी बहुत मन्दता हो गयी है; और श्रावक को तो (पंचम गुणस्थान में) इससे भी अधिक राग दूर हो गया है और हिंसादि के परिणाम छूट गये हैं; इस प्रकार श्रावक के देशव्रत का यह प्रकाशन है।

आत्मा का चिदानन्दस्वभाव पूर्ण रागरहित है, उसे जिसने श्रद्धा में लिया है अथवा श्रद्धा में लेना चाहता है, ऐसे जीव को राग की कितनी मन्दता हो, देव-गुरु-धर्म की ओर परिणाम किस प्रकार के हों, सर्वज्ञ की पहचान कैसी हो—इन सब भेदों का इस अधिकार में मुनिराज ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। सभा में यह तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। महापुण्य हो तभी जैनधर्म का और सत्य श्रवण का ऐसा योग प्राप्त होता है; उसे समझने के लिए अन्तर में बहुत पात्रता होनी चाहिए।

राग का एक कण भी जिसमें नहीं, ऐसे स्वभाव का श्रवण करने में और उसे समझने की पात्रता में जो जीव आया, उसे स्थूल अनीति का, तीव्र कषायों का, माँस-मधु आदि अभक्ष्य के भक्षण का तथा कुदेव-कुगुरु-कुमार्ग के सेवन का तो त्याग होता ही है; और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का आदर, साधर्मि का प्रेम, परिणामों की कोमलता, विषयों की मिठास का त्याग, वैराग्य का रंग—ऐसी योग्यता होती है। ऐसी पात्रता बिना ही तत्त्वज्ञान हो जाये - ऐसा नहीं है। भरत चक्रवर्ती के छोटी-छोटी उम्र के राजकुमार भी आत्मा के

भानसहित राजपाट में थे, उनका अन्तरंग जगत से उदास था। छोटे राजकुमार राजसभा में आकर दो घड़ी बैठते हैं, वहाँ भरतजी राज भण्डार में से करोड़ों सोने की मोहरें उन्हें देने को कहते हैं, परन्तु छोटे से कुमार वैराग्य से कहते हैं—पिताजी! ये सोने की मोहरें राज-भण्डार में ही रहने दो, हमें इनका क्या करना है? हम तो मोक्ष-लक्ष्मी की साधना के लिये आये हैं, पैसा एकत्रित करने के लिये नहीं। पर के साथ हमारे सुख का सम्बन्ध नहीं है; पर से निरपेक्ष हमारा सुख हमारी आत्मा में है—ऐसा दादाजी (ऋषभदेव भगवान) के प्रताप से हमने समझा है और इसी सुख को साधना चाहते हैं।—देखो, कितना वैराग्य! यह तो पात्रता समझने के लिये एक उदाहरण दिया। इस प्रकार धर्म की योग्यतावाले जीव को अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा आत्मस्वभाव का, देव-गुरु-धर्म का विशेष प्रेम होता है और सम्यक्भानसहित वह रागादि को दूर करता जाता है। वहाँ बीच-बीच में दान के प्रकार—देवपूजा आदि किस प्रकार के होते हैं, वह बताया। अब, उस दान का फल कहेंगे। ●●●

 *
 * मुनिराज बारम्बार निर्विकल्परूप से चैतन्यनगर में प्रवेश करके अद्भुत *
 * ऋद्धि का अनुभव करते हैं। उस दशा में, अनन्त गुणों से भरपूर चैतन्यदेव भिन्न- *
 * भिन्न प्रकार की चमत्कारिक पर्यायोंरूप तरंगों में एवं आश्चर्यकारी आनन्द-तरंगों *
 * में डोलता है। मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीव का यह स्वसंवेदन कोई और ही है, *
 * वचनातीत है। वहाँ शून्यता नहीं है, जागृतरूप से अलौकिक ऋद्धि का अत्यन्त *
 * स्पष्ट वेदन है। तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेव के दर्शन होंगे। —वचनामृत *
 *
 *

है; औषधिदान से अतिशय निरोगता और सुन्दररूप मिलता है; शास्त्रदान से अत्यन्त अद्भुत विद्वत्ता होती है; और अभयदान से जीव को इन सब गुणों का परिवार प्राप्त होता है, तथा क्रमशः ऊँची पदवी को प्राप्त कर वह जीव, मोक्ष प्राप्त करता है ॥१२ ॥

आहारदान से लौकिक सुख औषधि देने से तन नीरोग ।
शास्त्रदान दें तो परभव में हो अद्भुत पाण्डित्य अहो ॥
अभयदान से उपर्युक्त सारे गुण होते अपने आप ।
उत्तम से उत्तम पद पाकर हो जाता है शिवपद प्राप्त ॥१२ ॥

देखो, यह दान का फल । श्रावकधर्म के मूल में जो सम्यग्दर्शन है, उसे लक्ष्य में रखकर यह बात समझनी है । सम्यक्त्व की भूमिका में दानादि शुभभावों से ऐसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है कि इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद आदि प्राप्त होते हैं; और उस पुण्यफल में हेयबुद्धि है, इसलिए वह राग को छोड़कर, वीतराग होकर मोक्ष प्राप्त करेगा । इस अपेक्षा से उपचार करके दान के फल से आराधक जीवों को मोक्ष की प्राप्ति कही है, परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट न करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उनमें रुक जावे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता ।

दान के फलस्वरूप पुण्य से स्वर्ग के सुख, निरोग-रूपवान शरीर, चक्रवर्तीपद का वैभव आदि मिले, उसमें ज्ञानी को कोई सुखबुद्धि नहीं है । अन्तर के चैतन्यसुख को प्रतीति और अनुभव में लिया है, उसके अतिरिक्त अन्य कहीं पर उसे सुख नहीं भासता ।

दान के फल में किसी को ऐसी ऋद्धि प्रगट हो कि उसके शरीर के स्नान का पानी छिड़कते ही अन्य का रोग मिट जावे और मूर्च्छा दूर हो जावे । शास्त्रदान से ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और आश्चर्यकारी बुद्धि प्रगटती है ।

देखो न, ग्वाले के भव में शास्त्रदान देकर ज्ञान का बहुमान किया तो इस भव में कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा और कैसी लब्धि प्राप्त हुई! वे तो ज्ञान के अगाध सागर थे; तीर्थकर भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि इस पंचम काल में उन्हें सुनने को मिली । मंगलाचरण के श्लोक में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पीछे मंगलम् कुन्दकुन्दाचार्यो कहकर तीसरा उनका नाम लिया जाता है ।

देव-गुरु-शास्त्र के अनादर से जीव को तीव्र पाप बँधता है, और देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान से जीव को ज्ञानादि प्रगट होते हैं। जिस प्रकार अनाज के साथ घास तो सहज ही पकता है, परन्तु चतुर किसान घास के लिये बोनी नहीं करता, उसकी दृष्टि तो अनाज पर है। इसी प्रकार धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभ से ऊँचा पुण्य बँधता है और चक्रवर्ती आदि उच्च पद सहज ही मिलते हैं, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता के साधन पर है, पुण्य अथवा उसके फल की वांछा उसे नहीं। जिसे पुण्य के फल की वांछा है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को तो ऊँचा पुण्य नहीं बँधता; चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी योग्य पुण्य, मिथ्यादर्शन की भूमिका में नहीं बँधता। सम्यग्दर्शनरहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्र को आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फल में वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु होती है और दस प्रकार के कल्पवृक्ष उसे पुण्य का फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवों ने पूर्व में मुनियों को आहारदान दिया, इससे भोगभूमि में जन्मे और वहाँ मुनि के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव भगवान को आहारदान दिया, उसकी महिमा तो प्रसिद्ध है।

इस प्रकार के भक्ति-पूजा-आहारदान आदि शुभभाव श्रावक को होते हैं, ऐसी ही उसकी भूमिका है। वर्तमान में ही उसने राग को दृष्टि में तो हेय किया है अर्थात् दृष्टि के बल से अल्प काल में ही चारित्र प्रगट कर, राग को सर्वथा दूर कर वह मक्ति प्राप्त करेगा।

सामनेवाला जीव धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्ति का भाव उल्लसित होता है, क्योंकि स्वयं को उस आराधना का तीव्र प्रेम है! अर्थात् उसके प्रति भक्ति से (मैं उस पर उपकार करता हूँ, ऐसी बुद्धि से नहीं परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदि के भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने राग को घटाता है और आराधना की भावना को पुष्ट करता है। देखो, यह तो वीतरागी सन्तों ने वस्तुस्वरूप प्रगट किया है—वे अत्यन्त निःस्पृह थे, उन्हें कोई परिग्रह नहीं था, उन्हें जगत से कुछ लेना नहीं था। धर्मी जीव भी निःस्पृह होता है, उसे भी किसी से लेने की इच्छा नहीं है। लेने की वृत्ति तो पाप है। धर्मी जीव तो दानादि द्वारा राग घटाना चाहता है। किसी धर्मी को विशेष पुण्य से बहुत वैभव भी हो, उससे उसे अधिक राग है—ऐसा नहीं

है। राग का माप संयोग से नहीं है। यहाँ तो धर्म की निचली भूमिका में (श्रावकदशा में) धर्म कितना हो, राग कैसा हो और उसका फल क्या हो, वह बतलाया है। वहाँ जितनी वीतरागता हुई है, उतना धर्म है और उसका फल तो आत्मशान्ति का अनुभव है। स्वर्गादि वैभव मिले, वह कोई वीतरागभावरूप धर्म का फल नहीं, वह तो राग का फल है। कोई जीव यहाँ ब्रह्मचर्य पाले और स्वर्ग में उसे अनेक देवियाँ मिलें,—तो क्या ब्रह्मचर्य के फल में देवियाँ मिलीं? नहीं; ब्रह्मचर्य में जितना राग दूर हुआ और वीतरागभाव हुआ, उसका फल तो आत्मा में शान्ति है, परन्तु अभी वह पूर्ण वीतराग नहीं हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शुभ और अशुभराग बाकी रह गये हैं; अभी धर्मी को जो शुभराग बाकी रह गया है, उसके फल में वह कहाँ जाएगा? क्या नरकादि नीच गति में जावेगा? नहीं; वह तो देवलोक में ही जायेगा। अर्थात् देवलोक की प्राप्ति राग का फल है, धर्म का नहीं।

यहाँ पुण्य का फल बतलाकर कोई उसका लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटाने का उपदेश देते हैं। जिस प्रकार स्त्री, शरीर आदि के लिये अशुभभाव से शक्ति अनुसार खर्च उत्साहपूर्वक करता है, वहाँ अन्य को यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। तो जिसे धर्म का प्रेम है, वह जीव स्वप्रेरणा से, देव-गुरु-धर्म की भक्ति, पात्रदान आदि में बारम्बार अपनी लक्ष्मी का उपयोग करता है—इसमें वह किसी के कहने की राह नहीं देखता। राग तो अपने लिये घटाना है न! किसी अन्य के लिए राग नहीं घटाना है; इसलिए धर्मी जीव चतुर्विध दान द्वारा अपने राग को घटावे, ऐसा उपदेश है।

अनेक प्रकार के आरम्भ और पाप से भरे हुए गृहस्थाश्रम में पाप से बचाने के लिए दान मुख्य कार्य है; उसका उपदेश आगे की छह गाथाओं में करेंगे। ●●●

***** [१३] *****
 * अनेक प्रकार पापों से बचने के लिए गृहस्थ दान करे *

 * अहा, जिसे सर्वज्ञ के धर्म की महिमा आयी है, अन्तर्दृष्टि से आत्मा के *
 * धर्म को जो साधता है, महिमापूर्वक वीतरागभाव में जो आगे बढ़ता है और *
 * तीव्र राग घटने से जिसे श्रावकपना हुआ है—उस श्रावक के भाव कैसे *
 * होते हैं, उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी *
 * ऊँची है और स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसे आत्मसुख अधिक है—ऐसी *
 * श्रावकदशा है! वह श्रावक भी हमेशा दान करता है। मात्र लक्ष्मी की *
 * लोलुपता में, पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न *
 * करे—ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता। *

गृहस्थ को दान की प्रधानता का उपदेश देते हैं—

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
 भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
 तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रियोऽस्य पन्था शुभो
 दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्संगतिः ॥१३॥

अर्थ : जो धन, पाप से भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके समुद्र, पर्वत और पृथ्वी में भ्रमण करके तथा अनेक प्रकार के कष्ट से महाखेद भोगकर बहुत दुःख से प्राप्त किया जाता है; वह धन जीवों को अपने पुत्र और जीवन की अपेक्षा भी अधिक प्यारा है। ऐसे धन का उपयोग करने का उत्तम मार्ग एक दान ही है; इसके सिवाय धन खर्च करने का कोई उत्तम मार्ग नहीं।

शत शत पाप बहुल कर्मों से और महा दुःख भी सहकर ।
सागर पर्वत या पृथ्वी पर घूम घूम कर धन संचय ॥
पुत्रों या प्राणों से भी प्रिय धन-व्यय का सर्वोत्तम मार्ग ।
मात्र दान है अन्य न धन की सद्गति अतः करें बुध दान ॥१३ ॥

देखो, आजकल तो जीवों को पैसा कमाने के लिए कितना पाप और झूठ करना पड़ता है। समुद्र पार के देश में जाकर अनेक प्रकार के अपमान सहन करे, सरकार पैसा ले लेगी, ऐसा दिन-रात भयभीत रहा करे,—इस प्रकार पैसे के लिए कितना कष्ट सहन करता है और कितने पाप करता है? इसके लिए अपना बहुमूल्य जीवन भी नष्ट कर देता है, पुत्रादि का भी वियोग सहन करता है,—इस प्रकार वह जीवन की अपेक्षा और पुत्र की अपेक्षा धन को प्यारा गिनता है।—तो आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई! ऐसा प्यारा धन, जिसके लिए तूने कितने पाप किये, उस धन का सच्चा-उत्तम उपयोग क्या? इसका विचार कर। स्त्री-पुत्र के लिए अथवा विषय-भोगों के लिए तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो उलटे तुझे पापबन्ध होगा। इसलिए लक्ष्मी की सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव-गुरु-धर्म की प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्र प्रचार, दान आदि उत्तम कार्यों में उसका उपयोग कर।

प्रश्न:—बच्चों के लिए कुछ नहीं रखना ?

उत्तर:—भाई! यदि तेरा पुत्र सुपुत्र और पुण्यवन्त होगा तो वह तुझसे सवाया धन प्राप्त करेगा; और यदि वह पुत्र कुपुत्र होगा तो तेरी इकट्टी की हुई-सारी लक्ष्मी को भोग-विलास में नष्ट कर देगा, और पापमार्ग में उपयोग करके तेरे धन को धूल कर डालेगा,—तो अब तुझे संचय किसके लिए करना है? पुत्र का नाम लेकर तुझे अपने लोभ का पोषण करना हो तो अलग बात है! अन्यथा—

पूत सपूत तो क्या धन संचय ?

पूत कपूत तो क्या धन संचय ?

इसलिए, लोभादि पाप के कुँएँ में से तेरी आत्मा का रक्षण हो, ऐसा कर; लक्ष्मी के रक्षण की ममता छोड़ और दानादि द्वारा तेरी तृष्णा को घटा। वीतरागी सन्तों को तो तेरे पास से कुछ नहीं चाहिए। परन्तु जिसे पूर्ण रागरहित स्वभाव की रुचि उत्पन्न हुई है, वीतरागस्वभाव

की ओर जिसका परिणामन लगा, उसको राग घटे बिना नहीं रहता। किसी के कहने से नहीं परन्तु अपने सहज परिणाम से ही मुमुक्षु को राग घट जाता है।

इस सम्बन्ध में धर्मी गृहस्थ को कैसे विचार होते हैं ? समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में कहते हैं कि —

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।

अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७ ॥

यदि पाप का आस्रव मुझे रुक गया है तो मुझे मेरे स्वरूप की सम्पदा प्राप्त होगी, वहाँ अन्य सम्पदा का मुझे क्या काम ? और यदि मुझे पाप का आस्रव हो रहा है तो ऐसी सम्पदा से मुझे क्या लाभ है ? जिस सम्पदा के मिलने से पाप बढ़ता हो और स्वरूप की सम्पदा लुटती हो, ऐसी सम्पदा किस काम की ?—इस प्रकार दोनों तरह से सम्पदा का असारपना जानकर धर्मी उसका मोह छोड़ता है। जो मात्र लक्ष्मी की लोलुपता के पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न करे, ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता। अहा ! जिसे सर्वज्ञ की महिमा आयी है, अन्तर्दृष्टि से आत्मा के स्वभाव को जो साधते हैं, महिमापूर्वक वीतरागमार्ग में जो आगे बढ़ते हैं और तीव्र राग घटने से जिन्हें श्रावकपना प्रगट हुआ है—ऐसे श्रावक के भाव कैसे हों, उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है, स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसका आत्मसुख अधिक है—ऐसी श्रावकदशा है। स्वभाव के सामर्थ्य का जिसे भान है, विभाव की विपरीतता समझता है और पर को पृथक् देखता है—ऐसा श्रावक, राग के त्याग द्वारा अपने में क्षण-क्षण शुद्धता का दान करता है और बाहर में अन्य को भी रत्नत्रय के निमित्तरूप शास्त्र आदि का दान देता है।

ऐसा मनुष्य-भव प्राप्त करके आत्मा की जिज्ञासा एवं उसके ज्ञान की कीमत आनी चाहिए। श्रावक को स्वाध्याय, दान आदि शुभभाव विशेषरूप से होते हैं। जिसे ज्ञान का रस हो, प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये-नये शास्त्रों के स्वाध्याय करने से ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये-नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। अपूर्व तत्त्व के श्रवण और स्वाध्याय करने से उसे ऐसा लगता है कि अहो, आज मेरा दिन सफल हुआ। छह प्रकार के अन्तरंग तपों में ध्यान के पश्चात् दूसरा नम्बर स्वाध्याय का कहा है।

श्रावक को सब पक्षों का विवेक होता है। स्वाध्याय आदि की तरह देवपूजा आदि कार्यों में भी वह भक्ति से वर्तता है। श्रावक को भगवान सर्वज्ञदेव के प्रति परम प्रीति होती है, यह तो उसका इष्ट ध्येय है। इस प्रकार जीवन में वह भगवान को ही इच्छता है। चलते-फिरते प्रत्येक प्रसंग में उसे भगवान याद आते हैं। वह नदी के झरने की कल-कल आवाज सुनकर कहता है कि—हे प्रभो! आपने पृथ्वी का त्याग कर दीक्षा ली, इससे अनाथ हुई यह पृथ्वी कलरव करती विलाप करती है और उसके आँसुओं का यह प्रवाह है। वह आकाश में सूर्य-चन्द्र को देखकर कहता है कि प्रभो! आपने शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों को जब भस्म किया, तब उसके स्फुल्लिंग आकाश में उड़े, वे स्फुल्लिंग ही ये सूर्य-चन्द्र रूप में उड़ते दिखायी दे रहे हैं।—ध्यान-अग्नि में भस्म होकर उड़ते हुए कर्म के समूह बादलों के रूप में अभी भी जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं!—ऐसी उपमाओं द्वारा श्रावक, भगवान के शुक्लध्यान को याद करता है और स्वयं भी उसकी भावना भाता है। ध्यान की अग्नि और वैराग्य की हवा, उससे अग्नि प्रज्वलित होकर कर्म भस्म हो गये, उसमें सूर्य-चन्द्ररूपी स्फुल्लिंग उड़े। ध्यानस्थ भगवान के बाल हवा में फर-फर उड़ते देखकर कहता है कि, ये बाल नहीं, ये तो भगवान के अन्तर में ध्यान द्वारा जो कर्म जल रहे हैं, उनका धुआँ उड़ रहा है।—इस प्रकार सर्वज्ञदेव को पहिचानकर उनकी भक्ति का रंग लगाया है। उसके साथ गुरु की उपासना, शास्त्र का स्वाध्याय आदि भी होता है।

शास्त्र तो कहते हैं कि अरे! कान द्वारा जिसने वीतरागी सिद्धान्त का श्रवण नहीं किया और मन में उसका चिन्तन नहीं किया, उसे कान और मन मिलना, न मिलने के बराबर ही हैं। आत्मा की जिज्ञासा नहीं करे तो कान और मन दोनों गुमाकर एकेन्द्रिय में चला जाएगा। कान की सफलता इसमें है कि धर्म का श्रवण करे, मन की सफलता इसमें है कि आत्मिक गुणों का चिन्तन करे और धन की सफलता इसमें है कि सत्पात्र के दान में उसका उपयोग हो। भाई! अनेक प्रकार के पाप करके तूने धन इकट्ठा किया तो अब परिणामों को पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बँधे।—इसका उपयोग तो धर्म के बहुमानपूर्वक सत्पात्रदान करना ही है।

लोगों को जीवन से और पुत्र से भी यह धन प्यारा होता है, परन्तु धर्मी-श्रावक को धन की अपेक्षा धर्म प्यारा है; इसलिए धर्म के लिए धन खर्चने में उसे उल्लास आता है।

इसलिए श्रावक के घर में अनेक प्रकार दान के कार्य निरन्तर चला करते हैं। धर्म और दानरहित घर को तो श्मशानतुल्य गिनकर कहते हैं कि ऐसे गृहवास को तो गहरे पानी में जाकर 'स्वा..हा' कर देना। जो एकमात्र पापबन्ध का ही कारण हो, ऐसे गृहवास को तू तिलांजलि देना, पानी में डुबो देना। अरे, वीतरागी सन्त इस दान का गुँजार शब्द करते हैं... उसे सुनकर किन भव्य जीवों के हृदयकमल न खिल उठें ? किसे उत्साह नहीं आवे ? भ्रमर के गुँजार शब्द से और चन्द्रमा के उदय से कमल की कली तो खिल उठती है, पत्थर नहीं खिलता है; उसी प्रकार इस उपदेशरूपी गुँजार शब्द को सुनकर धर्म की रुचिवाले जीव का हृदय तो खिल उठता है.. कि वाह ! देव-गुरु-धर्म की सेवा का अवसर आया.. मेरा धन्य भाग्य.. मुझे देव-गुरु का काम मिला। इस प्रकार उल्लसित होता है।

शास्त्र में कहते हैं कि शक्ति-प्रमाण दान करना। तेरे पास एक रुपये की पूँजी हो तो उसमें से एक पैसा दान करना.. परन्तु दान अवश्य करना, लोभ घटाने का अभ्यास अवश्य करना। लाखों-करोड़ों की पूँजी हो, तभी दान दिया जा सके और ओछी पूँजी हो, उसमें दान नहीं दिया जा सके—ऐसा कुछ नहीं है। स्वयं के लोभ घटाने की बात है। इसमें कोई पूँजी की मात्रा देखना नहीं है। उत्तम श्रावक कमाई का चौथा भाग धर्म में खर्च करे, मध्यमपने छट्ठा भाग खर्च करे और कम से कम दसमांश खर्च करे—ऐसा उपदेश है। चन्द्रकान्त-मणि की सफलता कब ? कि चन्द्रमा के संयोग से उसमें पानी झरने लगे तब; उसी प्रकार लक्ष्मी की सफलता कब ? कि सत्पात्र के प्रति वह दान में खर्च हो तब। धर्मों को ऐसा भाव होता ही है, परन्तु उदाहरण से अन्य जीवों को समझाते हैं।

संसार में लोभी जीव धन प्राप्ति के लिए कैसे-कैसे पाप करते हैं ! लक्ष्मी तो पुण्यानुसार मिलती है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए बहुत से जीव झूठ-चोरी आदि अनेक प्रकार के पापभाव करते हैं। कदाचित् कोई जीव ऐसे भाव न करे और प्रमाणिकता से व्यापार करे तो भी लक्ष्मी प्राप्त करने का भाव तो पाप ही है। यह बतलाकर यहाँ ऐसा कहते हैं कि भाई ! जिस लक्ष्मी के लिए तू इतने-इतने पाप करता है और जो लक्ष्मी, पुत्रादि की अपेक्षा भी तुझे अधिक प्यारी है; उस लक्ष्मी का उत्तम उपयोग यही है कि सत्पात्रदान आदि धर्म कार्यों में उसे खर्च; सत्पात्रदान में खर्ची गयी लक्ष्मी असंख्यगुणी होकर फलेगी।

एक आदमी चार-पाँच हजार रुपये के नये नोट लाया और घर आकर स्त्री को दिये,

उस स्त्री ने उन्हें चूल्हे के पास रख दिया और अन्य काम से जरा दूर चली गयी। उसका छोटा लड़का पीछे सिगड़ी के पास बैठा था, सर्दी के दिन थे; लड़के ने नोट की गड़्डी उठाकर सिगड़ी में डाल दी और अग्नि भड़क गयी और वह तापने लगा... इतने में माँ आयी, लड़का कहने लगा—माँ देख... मैंने सिगड़ी कैसी कर दी! देखते ही माँ समझ गयी कि अरे! इसने तो पाँच हजार रुपयों की राख कर दी! उसे ऐसा क्रोध चढ़ा कि उसने लड़के को इतना अधिक मारा कि लड़का मर गया! देखो! पुत्र की अपेक्षा धन कितना प्यारा है!!

दूसरी एक घटना—एक ग्वालिन दूध बेचकर उसके तीन रुपये लेकर अपने गाँव जा रही थी, अकाल के दिन थे, रास्ते में लुटेरे मिले। ग्वालिन को डर लगा कि ये लोग मेरे रुपये छीन लेंगे, इसलिए वह तीन रुपये—कल्दार पेट में निगल गयी। परन्तु लुटेरों ने वह देख लिया और ग्वालिन को मारकर उसके पेट में से रुपये निकाल लिए। देखो, यह क्रूरता! ऐसे जीव दौड़कर नरक में न जावें तो अन्य कहाँ जावें? ऐसे तीव्र पाप के परिणाम तो जिज्ञासु को नहीं होते। बहुत से लोगों को तो लक्ष्मी कमाने की धुन में अच्छी तरह खाने का समय भी नहीं मिलता, देश छोड़कर अनार्य की तरह परदेश में जाता है, जहाँ भगवान के दर्शन भी न मिलें, सत्संग भी न मिले।

अरे भाई! जिसके लिए तूने इतना किया, उस लक्ष्मी का कुछ तो सदुपयोग कर। पचास-साठ वर्ष संसार की मजदूरी कर-करके मरने बैठा हो, मरते-मरते अन्त घड़ी में बच जाये और खटिया में से उठे तो भी उन्हीं पापकार्यों में संलग्न हो जाता है, परन्तु ऐसा नहीं विचारता कि अरे, समस्त जिन्दगी धन कमाने में गवाँ दी और मुफ्त में पाप बाँधा, फिर यह धन तो कोई साथ चलने का नहीं है, इसलिए अपने हाथ से ही राग घटाकर इसका कोई सदुपयोग करूँ; और जीवन में आत्मा का कुछ हित हो, ऐसा उद्यम करूँ। देव-गुरु-धर्म का उत्साह, सत्पात्रदान, तीर्थयात्रा आदि में राग घटाकर लक्ष्मी का उपयोग करेगा तो भी तुझे अन्तरंग में ऐसा सन्तोष होगा कि आत्मा के हित के लिए मैंने कुछ किया है। अन्यथा मात्र पाप में ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जायेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे, जीवन में आत्महित के लिए कुछ नहीं किया; और अशान्तरूप से देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा? इसलिए हे भाई! छठवें से सातवें गुणस्थान

***** [१४] *****
*
* गृहस्थपना दान से ही शोभता है *
*

*
* धर्म की प्रभावना आदि के लिए दान करने का प्रसंग आये, वहाँ धर्म *
* के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाता हुआ उदारता से उछल जाता है कि अहो, *
* ऐसे उत्तम कार्य के लिए जितना धन खर्च किया जावे, उतना सफल है! जो *
* धन अपने हित के लिए काम न आवे और बन्धन का ही कारण हो - वह *
* धन किस काम का ?—ऐसे धन से धनवानपना कौन कहे ? सच्चा धनवान *
* तो वह है कि जो उदारतापूर्वक धर्मकार्यों में अपनी लक्ष्मी खर्च करता है। *
*

श्रावक के हमेशा के जो छह कर्तव्य हैं, उनमें से यह दान का वर्णन चल रहा है—

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थ : धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करनेवाला होता है और दान से ही दोनों लोकों का प्रकाश करनेवाला होता है, किन्तु बिना दान के वह गृहस्थपना दोनों लोकों का नाश करनेवाला ही है क्योंकि गृहस्थों के सैकड़ों छोटे-छोटे व्यापारों के करने से सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है, उस पाप के नाश के लिए तथा चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिए यह एक पात्रदान ही है, दूसरी कोई

वस्तु नहीं है; इसलिए अपनी आत्मा के हित को चाहनेवाले भव्यों को चाहिए कि वे पात्र दान से ही गृहस्थपने को तथा धन को सफल करे ॥१४॥

धनवानों को गृहस्थ आश्रम दान मात्र से होय सफल ।
दोनों लोक प्रकाशित होते बिना दान के हो निष्फल ॥
खोटे व्यापारों से पाप गृहस्थों को जो हों उत्पन्न ।
पाप नाश अरु शशि सम यश के लिए दान है कोई न अन्य ॥१४॥

धनवान मनुष्यों का गृहस्थपना दान द्वारा ही गुणकारी है, तथा दान द्वारा ही इस लोक और परलोक दोनों का उद्योत होता है; दानरहित गृहस्थपना तो दोनों लोकों का ध्वंस करनेवाला है। गृहस्थ को सैकड़ों प्रकार के दुर्व्यापार से जो पाप होता है, उसका नाश दान द्वारा होता है और दान द्वारा चन्द्र समान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इस प्रकार पाप का नाश और यश की प्राप्ति के लिए गृहस्थ को सत्पात्रदान के समान अन्य कुछ नहीं। इसलिए अपना हित चाहनेवाले गृहस्थों को दान द्वारा गृहस्थपना सफल करना चाहिए।

देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उल्लास के द्वारा संसार की ओर का उल्लास कम होता है, तब वहाँ दानादि के शुभभाव आते हैं; इसलिए गृहस्थ को पाप घटाकर शुभभाव करना चाहिए—ऐसा उपदेश है। तू शुभभाव कर, ऐसा उपदेश व्यवहार में होता है; परमार्थ से तो राग का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है। राग के कण का भी कर्तृत्व माने अथवा उसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा शुद्धदृष्टि के वर्णन में आता है; ऐसी दृष्टिपूर्वक राग की बहुत मन्दता धर्मी को होती है। रागरहित स्वभाव दृष्टि में ले और राग घटे नहीं—ऐसा कैसे बने?

यहाँ कहते हैं कि जिसे दानादि शुभभाव का भी पता नहीं, मात्र पापभाव में ही पड़ा है, उसको तो इस लोक में भी शोभा नहीं और परलोक में भी उसे उत्तम गति नहीं मिलती। पाप से बचने के लिए पात्रदान ही उत्तम मार्ग है। मुनिवरों को तो परिग्रह ही नहीं, उनको तो अशुभ परिणति छूट गयी है और बहुत आत्मरमणता वर्तती है—उनकी तो क्या बात! यहाँ तो गृहस्थ के लिए उपदेश है। जिसमें अनेक प्रकार के पाप के प्रसंग हैं, ऐसे गृहस्थपने में पाप से बचने के लिए पूजा-दान-स्वाध्याय आदि कर्तव्य हैं। तीव्र लोभी प्राणी को सम्बोधन करके कार्तिकेयस्वामी तो कहते हैं कि अरे जीव! यह लक्ष्मी चंचल

है, इसकी ममता तू छोड़। तू तीव्र लोभ से अन्य के लिए (देव-गुरु-शास्त्र के शुभ कार्यों में) तो लक्ष्मी नहीं खर्चता, परन्तु देह के लिए तो खर्च! इतनी तो ममता घटा।—इस प्रकार भी लक्ष्मी की ममता घटाना सीखेगा तो कभी शुभ कार्यों में भी लोभ घटाने का प्रसंग आवेगा। यहाँ तो धर्म के निमित्तों के प्रति उल्लासभाव से जो दानादि होता है, उसकी ही मुख्य बात है।

जिसे धर्म का लक्ष्य नहीं और कुछ मन्दराग से दानादि करे तो साधारण पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ तो धर्म के लक्ष्यसहित के पुण्य की मुख्यता है, अर्थात् अधिकार के प्रारम्भ में ही अरहन्तदेव की पहचान की है। शास्त्र में तो जिस समय जो प्रकरण चलता हो, उस समय उसका ही विस्तार से वर्णन होता है। ब्रह्मचर्य के समय ब्रह्मचर्य का वर्णन होता है और दान के समय दान का वर्णन होता है। मूलभूत सिद्धान्त लक्ष्य में रखकर प्रत्येक कथन का भाव समझना चाहिए।

लोगों में तो जिसके पास अधिक धन हो, उसे लोग धनवान कहते हैं; परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि जो लोभी है, उसके पास चाहे जितना धन पड़ा हो तो भी वह धनवान नहीं परन्तु रंक है, क्योंकि जो धन उदारतापूर्वक सत् कार्य में खर्च करने के काम न आवे, अपने हित के लिए काम न आवे, मात्र पापबन्ध का ही कारण हो, वह धन किस काम का? और ऐसे धन से धनवानपना कौन माने? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक अपनी लक्ष्मी को दान में खर्च करता हो। भले लक्ष्मी थोड़ी हो परन्तु जिसका हृदय उदार है, वह धनवान है और लक्ष्मी का ढेर होते हुए भी जिसका हृदय ओछा है—कंजूस है, वह दरिद्री है। एक कहावत है कि—

रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं....

दाता छुपे नहीं घर माँगन आये...

जैसे युद्ध में तलवार चलाने का प्रसंग आवे, वहाँ रजपूत की शूरवीरता छिपी नहीं रहती; वह घर के कोने में चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है; उसी प्रकार जहाँ दान का प्रसंग आता है, वहाँ उदार हृदय के मनुष्य का हृदय छिपा नहीं रहता; धर्म के प्रसंग में प्रभावना आदि के लिए दान करने का प्रसंग आवे, वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का

हृदय झनझनाहट करता हुआ उदारता से उछल जाता है; वह बचत का बहाना नहीं ढूँढ़ता, अथवा उसे बार-बार कहना नहीं पड़ता, परन्तु वह अपने उत्साह से ही दान आदि करता है कि अहो! ऐसे उत्तम कार्य के लिए जितना दान करूँ, उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्य में खर्च हो, वह सफल है। इस प्रकार श्रावक, दान द्वारा अपने गृहस्थपने को शोभित करता है। शास्त्रकार अब इस बात का विशेष उपदेश देते हैं। ●●●

 * अरे जीव! तुझे मोक्षमार्गी होना है न! तो संसारमार्गी जीवों से मोक्षमार्गी *
 * जीवों के लक्षण सर्वथा भिन्न होते हैं। इसलिए प्रतिकूलता इत्यादि के समय *
 * संसारी जीवों के समान प्रवर्तन मत कर; किन्तु मोक्षमार्गी धर्मात्माओं की प्रवृत्ति *
 * को लक्ष्य में लेकर उनके समान प्रवर्तन कर; मोक्षमार्ग में दृढ़ रहना... मोक्षमार्गी *
 * धर्मात्माओं के जीवन को तेरे आदर्शरूप रखना। *
 * भाई! जीवन में प्रतिकूलता के छोटे-बड़े प्रसंग तो आयेंगे ही, कभी *
 * मान-अपमान के प्रसंग प्राप्त होंगे, किन्तु ऐसे प्रसंगों के समय नित्य चैतन्य के *
 * स्वामित्व और ज्ञान-वैराग्य के बल से मोक्षमार्ग को सुरक्षित रखना। किसी को *
 * प्रतिकूल मानकर मोक्षमार्ग से विचलित मत हो जाना किन्तु मैं तो मोक्षमार्गी, *
 * मुझे तो मोक्ष की साधना करना है—इस प्रकार दृढ़ता से सहनशीलता धारण *
 * करना। ऐसे प्रसंग के समय यदि तू भी साधारण संसारी जीवों के समान ही *
 * प्रवर्तन करेगा तो उनमें और तेरे में अन्तर क्या रहा? संसारी जीवों से मोक्ष की *
 * साधना करनेवाले जीवों के परिणामों की धारा सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। *
 * *****

***** [१५] *****
*
* पात्रदान में उपयोग हो वही सच्चा धन है *
*

*
* देव-गुरु-धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से धर्म का संस्कार *
* ताजा रहा करता है और धर्म की रुचि का बारम्बार घोलन होने से आगे बढ़ने *
* का कारण होता है... जो जीव पापकार्य में तो उत्साह से धन खर्च करता है *
* और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है, उसे धर्म का सच्चा प्रेम नहीं, धर्म के *
* प्रेमवाला गृहस्थ संसार की अपेक्षा विशेष उत्साह से धर्म-कार्यों में वर्तता है। *
*

गृहस्थ का जो धन पात्रदान में खर्च हो, वही सफल है—ऐसा कहकर दान की प्रेरणा देते हैं—

पात्राणामुपयोगी यत्किल धनं तत्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनयतः तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥१५ ॥

अर्थ : जो धन, उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है, विद्वान लोग उसी धन को अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्र में दिया हुआ धन, परलोक में सुख का देनेवाला होता है और अनन्त गुणा फलता है किन्तु जो धन नाना प्रकार के भोग-विलासों में खर्च होता है, वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया - ऐसा समझना चाहिए क्योंकि गृहस्थों के सर्व सम्पदाओं का प्रधान फल एक दान ही है ॥१५ ॥

जो धन पात्रों को उपयोगी वही श्रेष्ठ बुधजन मानें ।
 यहाँ अनन्त गुना फलता है परभव में सुखमय जानें ॥
 जो धन भोगों में लगता है वह तो नष्ट हुआ जानो ।
 क्योंकि गृहस्थों की सम्पत्ति का एक मुख्य फल दान अहो ॥१५ ॥

जो धन सत्पात्र-दान के उपयोग में आता है, उस धन को ही बुद्धिमान वास्तव में धन समझते हैं, क्योंकि सत्पात्र में खर्च किया हुआ धन परलोक में अनन्त गुना हो करके सुख देवेगा । जो धन भोगादि पापकार्यों में खर्च होता है, वह तो वास्तव में नष्ट हो जाता है । इस प्रकार पात्रदान गृहस्थ को समस्त सम्पदा का उत्तम फल है, ऐसा समझना ।

देखो ! ऐसा समझे, उसके पाप परिणाम कितने कम हो जावें ! और पुण्य-परिणाम कितने बढ़ जावें ! और फिर भी धर्म तो इनसे भी भिन्न तीसरी ही वस्तु है । भाई ! पाप और पुण्य के बीच में विवेक कर, कि संसार के भोगादि के लिए करूँ, वह तो पापबन्ध का कारण है और धर्म-प्रसंग में, धर्मात्मा के बहुमान आदि के लिए जो करूँ, वह पुण्य का कारण है और उसके फलस्वरूप परलोक में ऐसी सम्पदा मिलेगी, परन्तु धर्मात्मा तो इस सम्पदा को भी छोड़कर, मुनि होकर, रागरहित केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करेगा । इस प्रकार तीनों का विवेक करके धर्मी जीव जहाँ तक मुनिदशा न हो सके, वहाँ तक गृहस्थ अवस्था में पाप से बचकर दानादि शुभकार्यों में प्रवर्तता है ।

श्री पद्मनन्दीस्वामी ने दान का विशेष रूप अलग अधिकार में वर्णन किया है ।* भाई ! स्त्री आदि के लिए तू जो धन खर्च करता है, वह तो व्यर्थ है । पुत्र-पुत्री के विवाह आदि में पागल होकर धन खर्च करता है, वह तो व्यर्थ ही नहीं परन्तु उल्टे पाप का कारण है । उसके बदले, हे भाई ! जिनमन्दिर के लिए, वीतरागी शास्त्रों के लिए तथा धर्मात्मा-श्रावक-साधर्मी आदि सुपात्रों के लिए जो तेरी लक्ष्मी खर्च हो, वह धन्य है । लक्ष्मी तो एक जड़ है, परन्तु उसके दान का जो भाव है, वह धन्य है, ऐसा समझना क्योंकि सत्कार्य में जो लक्ष्मी खर्च हुई, उसका फल अनन्तगुना बढ़ जाता है ।

नव प्रकार के देव कहे हैं—पंच परमेष्ठी, जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, जिनवाणी और

* इस दान अधिकार पर भी पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक बार प्रवचन प्रदान किये हैं ।

जिनधर्म—इन नव प्रकार के देवों के प्रति धर्मी को भक्ति का उल्लास आता है। जो जीव पापकार्यों में तो धन उत्साह से खर्च करता है और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है, तो उस जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं; धर्म की अपेक्षा उसे संसार का प्रेम अधिक है। धर्म का प्रेमवाला गृहस्थ अपनी लक्ष्मी संसार की अपेक्षा अधिक उत्साह से धर्मकार्यों में खर्च करता है।

अरे! चैतन्य को साधने के लिए जहाँ सर्वसंगपरित्यागी मुनि होने की भावना हो, वहाँ लक्ष्मी का मोह न घटे, यह कैसे बने? लक्ष्मी में, भोगों में अथवा शरीर में धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मीयसुख जिसने देखा है अर्थात् विशेष सुखों की तृष्णा जिसे नष्ट हो गयी है।—जिसमें सुख नहीं उसकी भावना कौन करे? इस प्रकार धर्मात्मा के परिणाम अत्यन्त कोमल होते हैं; तीव्र पापभाव उसे नहीं होते। लोभियों के हेतु कौवे का उदाहरण शास्त्रकार ने दिया है। जली हुई रसोई की खुरचन मिले, वहाँ कौवा काँव-काँव करता रहता है। वहाँ अलंकार से आचार्य बतलाते हैं कि अरे! यह कौवा भी काँव-काँव करता हुआ अन्य कौवों को इकट्ठा करके खाता है और तू? राग द्वारा तेरे गुण जले, तब पुण्य बँधा और उसके फल में यह लक्ष्मी मिली, इस तेरे गुण के जले हुए खुरचन को यदि तू अकेला अकेला खावे और साधर्मी-प्रेम इत्यादि में उसका उपयोग न करे तो क्या कौवे से भी तू गया-बीता हो गया? अतः हे भाई! पात्रदान की महिमा जानकर तू लक्ष्मी का सदुपयोग कर।

प्रद्युम्नकुमार ने पूर्वभव में औषधिदान किया था, उससे कामदेव जैसा रूप तथा अनेक ऋद्धियाँ मिली थीं; लक्ष्मण की पटरानी विशल्यादेवी ने पूर्वभव में एक अजगर को करुणाभाव से अभयदान किया, उससे ऐसी ऋद्धि मिली थी कि उसके स्नान के पानी से लक्ष्मण आदि की मूर्च्छा उतर गयी। वज्रजंघ और श्रीमती की बात भी प्रसिद्ध है; वे आहारदान से भोगभूमि में उत्पन्न हुए और वहाँ मुनिराज के उपदेश से उन्होंने सम्यग्दर्शन पाया था; उनके आहारदान में अनुमोदन करनेवाले चारों जीव (सिंह, बन्दर, नेवला और सुअर) भी भोगभूमि में उनके साथ ही जन्मे और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। यद्यपि सम्यग्दर्शन कोई पूर्व के शुभराग का कार्य नहीं है; परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए पूर्व के राग को परम्परा कारण भी कहने में आता है, ऐसी उपचार की पद्धति है। देव-गुरु-धर्म के प्रसंग

में बारम्बार दान करने से तेरे धर्म के संस्कार ताजे रहा करेंगे और धर्म की रुचि का बारम्बार चिन्तन होने से तुझे आगे बढ़ने का कारण बनेगा ।

धर्म के प्रेम सहित दानादि का जो भाव हुआ, वह पूर्व में अनन्त काल में नहीं हुआ, ऐसा अपूर्व है और उसके फल में जो शरीर आदि मिलेंगे, वे भी अपूर्व हैं, क्योंकि आराधकभाव सहित पुण्य जिसमें निमित्त हो, ऐसा शरीर भी पहले अज्ञानदशा में कभी नहीं मिला था । जीव के भावों में अपूर्वता होने पर संयोगों में भी अपूर्वता हो गयी । सत्-पात्रदान के प्रसंग से अन्तर में स्वयं की प्रीति पुष्ट होती है, उसकी मुख्यता है; उसके साथ का राग और पुण्य भी भिन्न प्रकार का होता है ।—इस प्रकार दान का उत्तम फल जानना । ●●●

 * संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलता एक साथ आ पड़े, कहीं *
 * मार्ग न सूझे, उस समय उपाय क्या ? उपाय एक ही कि—धैर्यपूर्वक ज्ञानभावना *
 * भाना । ज्ञानभावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्ट कर हितमार्ग *
 * सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है । *
 * गृहस्थ श्रावक को भी 'ज्ञानभावना' होती है । *

***** [१६] *****
*
* पुण्यफल को छोड़कर धर्मी जीव मोक्ष को साधता है *
*

* प्रभो! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्मा के अचिंत्य निधान को स्पष्टरूप *
* से बतलाया, तो अब इस जगत में ऐसा कौन है जो इसके खातिर राजपाट *
* के निधान को तृणसम समझकर न छोड़े?—और चैतन्यनिधान को न *
* साधे? अहा, चैतन्य के आनन्दनिधान को जिसने देखा, उसे राग के फलरूप *
* बाह्य-वैभव तो तृणतुल्य लगता है। *

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाऽभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥१६ ॥

अर्थ : भूतकाल में भी बड़े-बड़े राज, पुत्रों को राज्य देकर तथा याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर, अनशन आदि उत्तम तपों को आचरण कर अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण यह एक दान ही है अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है; अतः विद्वानों को चाहिए कि धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करें ॥१६ ॥

राज्य पुत्र को धन याचक को अभय प्राणियों को देकर ।
खड़े-खड़े नृप तप कर पाते शाश्वत सुख का गृह शिवपद ॥

अतः मोक्ष का पहला कारण दान यही निश्चित करके ।

धन जीवन चंचल लख बुधजन शक्ति प्रमाण दान देवें ॥१६ ॥

यह जीवन और धन दोनों अत्यन्त क्षणभंगुर हैं—ऐसा जानकर चतुर पुरुष को सदा शक्ति अनुसार दान करना चाहिए, क्योंकि मोक्ष का प्रथम कारण दान है । पूर्व में अनेक राजाओं ने याचक जनों को धन देकर, सब प्राणियों को अभय देकर और समस्त राज्य पुत्र को देकर सम्यक् तप द्वारा नित्य सुखास्पद मोक्ष पाया ।

देखो ! यहाँ ऐसा बतलाते हैं कि दान के फल में धर्मी जीव को राज्य-सम्पदा इत्यादि मिलें, उसमें वह सुख मानकर मूर्च्छित नहीं होता, परन्तु दानादि द्वारा उसका त्याग करके मुनि होकर मोक्ष को साधने चला जाता है ।

जिस प्रकार चतुर किसान बीज की रक्षा करके बाकी का अनाज भोगता है और बीज बोता है, उसके हजारों गुने दाने पकते हैं; उसी प्रकार धर्मी जीव पुण्य-फलरूप लक्ष्मी इत्यादि वैभव का उपभोग धर्म की रक्षापूर्वक करता है, उसे दानादि सत्कार्यों में लगाता है—जिससे उसका फल बढ़ता जाता है और भविष्य में तीर्थकरदेव का समवसरण तथा गणधरादि सन्त-धर्मात्माओं का योग आदि धर्म के उत्तम निमित्त मिलते हैं । वहाँ आत्मस्वरूप को साधकर, बाह्यपरिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, केवलज्ञानरूप अनन्त आत्मवैभव को प्राप्त करता है ।

पुण्य के निषेध की भूमिका में (अर्थात् वीतरागभाव को साधते-साधते) ज्ञानी को अनन्तगुना पुण्य बँधता है । पुण्य की रुचिवाले अज्ञानी को जो पुण्य बँधे, उससे पुण्य का निषेध करनेवाले ज्ञानी की भूमिका में जो पुण्य बँधे, वह अलौकिक होता है—जिससे तीर्थकरपद मिले, चक्रवर्तीपद मिले, बलदेवपद मिले—ऐसा पुण्य आराधक जीव को ही होता है । राग की रुचिवाले विराधक को ऐसा पुण्य नहीं बँधता और उस पुण्य का फल आये, तब भी ज्ञानी उन संयोगों को अध्रुव—क्षणभंगुर बिजली जैसे चपल जानकर उनका त्याग करता है और ध्रुव ऐसे सुखधाम आत्मा को साधने हेतु सर्वसंगत्यागी मुनि होता है और मोक्ष को साधता है । पहले से ही दान की भावना द्वारा राग घटाया था, उससे आगे बढ़ते-बढ़ते सर्वसंग छोड़कर मुनि होता है । परन्तु पहले से ही गृहस्थपने में दानादि द्वारा

थोड़ा भी राग घटाते जिससे नहीं बनता, रागरहित स्वभाव क्या है, वह लक्ष्य में भी नहीं लेता, तो सर्व राग को छोड़कर मुनिपना कहाँ से लेगा?—इस अपेक्षा से मोक्ष का प्रथम कारण दान कहा गया है।

ज्ञानी जानता है कि एक तो लक्ष्मी इत्यादि बाह्यसंयोग में मेरा सुख जरा भी नहीं है, फिर संयोग क्षणभंगुर हैं, और उनका आना-जाना तो पूर्व के पुण्य-पाप के आधीन है। पुण्य हो तो दान में खर्च करने से लक्ष्मी समाप्त नहीं होती और पुण्य समाप्त हो तो लाख उपाय द्वारा भी वह नहीं रहती।—ऐसा जानते हुए वह महापुरुष धन इत्यादि छोड़कर मुनि होता है और सर्व परिग्रह छोड़कर मुनिपना न ले सके तब तक उसका उपयोग दानादि में करता है। इस प्रकार त्याग अथवा दान—ये दो ही लक्ष्मी के उपयोग के उत्तम मार्ग हैं। अज्ञानी तो परिग्रह में सुख मानने से उसकी ममता करके उसे साथ में ही रखना चाहता है। ‘जितना बढ़े परिग्रह उतना बढ़े सुख’—ऐसी अज्ञानी की भ्रमणा है। ज्ञानी जानता है कि जितना परिग्रह छूटे, उतना सुख है। मात्र बाह्यत्याग की बात नहीं, अन्दर का मोह छूटे, तब परिग्रह छूटा कहने में आता है।

अहा! चैतन्य का आनन्दनिधान जिसने देखा, उसे राग के फलरूप बाह्य वैभव तो तृणतुल्य लगता है। ऋषभदेव भगवान की स्तुति में पद्मनन्दीस्वामी कहते हैं कि अहो नाथ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्मा के अचिंत्य निधान को स्पष्टरूप से बताया, तो अब इस जगत में ऐसा कौन है कि इस निधान के खातिर राजपाट के निधान को तृणसमान समझकर न त्यागे?—और चैतन्यनिधान को न साधे! देखो तो, बाहुबली जैसे बलवान योद्धा राजसम्पदा छोड़कर इस प्रकार चल गये कि पीछे मुड़कर भी नहीं देखा कि राज्य क्या हाल है। चैतन्य की साधना में अडिगरूप से ऐसे लीन हुए कि खड़े-खड़े ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया! शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जैसे चक्रवर्ती-तीर्थंकर, वैसे ही भरत-चक्रवर्ती, पाण्डव आदि महापुरुष भी क्षणमात्र में राज्य-वैभव छोड़कर मुनि हुए। उन्हें जीवन में प्रारम्भ से ही भिन्नता की भावना का घोलन था। वे राग और राज्य से पहले ही से अलिप्त थे; इसलिए क्षणभर में ही जिस प्रकार सर्प काँचली उतारता है, उसी प्रकार वे राज्य और राग दोनों को छोड़कर मुनि हुए और उन्होंने स्वरूप की साधना की। अज्ञानी

को तो साधारण परिग्रह की ममता छोड़नी भी कठिन पड़ती है। चक्रवर्ती की सम्पदा की तो क्या बात! परन्तु उन्होंने चैतन्यसुख के सामने उसे भी तुच्छ समझकर एक क्षण में छोड़ दी। इसलिए कवि कहते हैं कि—

छ्यानवे हजार नार छिनक में दीनी छार,
अरे मन! ता निहार, काहे तू डरत है ?
छहों खण्ड की विभूति छांडत न देर कीन्हीं,
चमू चतुरंगन सों नेह न धरत हैं,
नौ निधान आदि जे चौदह रतन त्याग,
देह सेती नेह तोड़ वन विचरत हैं,
ऐसो विभौ त्यागत विलम्ब जिन कीन्हीं नाहीं,
तेरे कहो केती निंधि ? सोच क्यों करत है!

अरे! लक्ष्मी और जीवन अत्यन्त ही अस्थिर है, उसका क्या भरोसा? लक्ष्मी का दूसरा नाम 'चपला' कहा है, क्योंकि वह इन्द्रधनुष जैसी चपल है—क्षणभंगुर है। लक्ष्मी कब चली जावेगी और जीवन कब समाप्त हो जावेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। कल का करोड़पति अथवा राजा-महाराजा आज भिखारी बन जाता है; आज का निरोगी दूसरे क्षण मर जाता है; सुबह जिसका राज्य अभिषेक हुआ, सन्ध्या समय उसकी ही चिता देखने में आती है। भाई! ये तो सब अध्रुव हैं, इसलिए ध्रुव चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर इस लक्ष्मी आदि का मोह छोड़।

धर्मी श्रावक अथवा जिज्ञासु गृहस्थ अपनी वस्तु में से शक्ति अनुसार याचकों को इच्छित दान देवें। दान, योग्य वस्तु का होता है; अयोग्य वस्तु का दान नहीं होता! लौकिक कथाओं में आता है कि किसी राजा ने अपने शरीर का माँस काटकर दान में दिया अथवा अमुक भक्त ने अपने एक पुत्र का मस्तक दान में दिया—परन्तु यह वस्तुधर्म से विरुद्ध है, यह दान नहीं कहलाता, यह तो कुदान है। दान देनेवालों को भी योग्य-अयोग्य का विवेक होना चाहिए। आदरणीय धर्मात्मा आदि को आदरपूर्वक दान देवें, और अन्य दीन-दुःखी जीवों को करुणाबुद्धि से दान देवें। धर्मी को ऐसा भावना होती है कि मेरे निमित्त से जगत में किसी प्राणी को दुःख न हो। सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसाभावरूप अभयदान है और

***** [१७] *****
*
* मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे *
*

*
* जैनधर्म का चरणानुयोग भी अलौकिक है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्म *
* का और चरणानुयोग का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे *
* हुआ करें, ऐसा नहीं बनता। अध्यात्म की दृष्टि हो, वहाँ देव-गुरु की भक्ति, *
* दान, साधर्मी के प्रति वात्सल्य आदि भाव सहज आते ही हैं। श्रावक के *
* अन्तर में मुनिदशा की प्रीति है अर्थात् हमेशा त्याग की ओर लक्ष्य रहा *
* करता है और मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसका रोम-रोम उल्लसित हो *
* जाता है। भाई! ऐसा मनुष्य-अवतार मिला है तो मोक्षमार्ग साधकर इसे *
* सफल कर। *

श्रावकधर्म का वर्णन सर्वज्ञ की पहचान से शुरु किया था, उसमें यह दान का प्रकरण चल रहा है, उसमें कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके जो मोक्ष का उद्यम नहीं करता अर्थात् मुनिपना भी नहीं लेता और दानादि श्रावकधर्म का भी पालन नहीं करता, वह तो मोहबंधन में बँधा हुआ है—

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धियः
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धिं विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पति प्रतरणे पोतायते निश्चितम् ॥१७॥

अर्थ : अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी जो मनुष्य, मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिस घर में

दान नहीं दिया जाता, वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है—ऐसा भलीभाँति समझकर, अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है ॥१७॥

दुर्लभ नरभव पाकर भी जो करें न शिवपद हेतु प्रयत्न ।
घर में रहकर दान न देते उनका मोहपाश अति दृढ़ ॥
यही जानकर गृही यथा-धन देवें विविध प्रकार सुदान ।
क्योंकि दान ही भवसागर से पार उतरने का है यान ॥१७॥

ऐसा उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके भी जो कुबुद्धि जीव, मोक्ष का उद्यम नहीं करता और गृहस्थपने में रहकर दान भी नहीं देता, उसका गृहस्थपना तो दृढ़ मोहपाश के समान है। ऐसा समझकर गृहस्थ के लिए अपनी शक्ति अनुसार विविध प्रकार दान देना सदा कर्तव्य है, क्योंकि गृहस्थ को तो दान संसार समुद्र से तिरने के लिए निश्चित जहाज के समान है।

प्रथम तो ऐसे मनुष्यपने को पाकर मुनि होकर मोक्ष का साक्षात् उद्यम करना चाहिए। उतनी शक्ति न हो तो गृहस्थपने में रहकर दान तो जरूर करना चाहिए। इतना भी जो नहीं करते और संसार के मात्र पाप में ही लगे रहते हैं, वे तो तीव्र मोह के कारण संसार की दुर्गति में कष्ट उठाते हैं।—इससे बचने के लिए दान उत्तम जहाज के समान है। दान में देव-गुरु-शास्त्र के प्रसंग की मुख्यता है, जिससे उसमें धर्म का संस्कार बना रहे और राग घटता जावे तथा आगे जाकर मुनिपना होकर वह मोक्षमार्ग को साध सके। श्रावक के अन्तःकरण में मुनिदशा की प्रीति है, इसलिए हमेशा त्याग की ओर लक्ष्य रहा करता है; मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसके रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं। मुनिपने की भावना की बातें करे और अभी राग थोड़ा भी घटाने का ठिकाना न हो, लोभादि असीम हो—ऐसे जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं है। धर्मी जीव मुनि अथवा अर्जिका न हो सके तो भले ही गृहवास में रहता हो, परन्तु गृहवास में रहते हुए भी उसको आत्मा में कितनी उदासीनता है।

अरे! यह मनुष्य अवतार मिला है, जैनधर्म का और सत्संग का ऐसा उत्तम योग मिला है तो आत्मा को साधकर मोक्षमार्ग द्वारा उसको सफल कर। जो संसार-मोह में

जीवन बिताता है, उसके बदले आन्तरिक प्रयत्न द्वारा आत्मा में से माल बाहर निकाल, आत्मा का वैभव प्रगट कर ! चैतन्यनिधान के सामने जगत के अन्य सभी निधान तुल्य हैं । अहा ! सन्तों ने इस चैतन्यनिधान को स्पष्टरूप से दिखा दिया; उसे जानकर परिग्रह छोड़कर इस चैतन्य-खजाने को न ले, ऐसा मूर्ख कौन है ? चैतन्यनिधान को देखने के पश्चात् बाहर के मोह में लगा रहे, ऐसा मूर्ख कौन है ? करोड़ों रुपया देने पर भी जिस आयुष्य का एक समय भी बढ़ नहीं सकता, ऐसे इस कीमती मनुष्य जीवन को जो व्यर्थ गवाँते हैं और जन्म-मरण के अन्त का उपाय नहीं करते, वे दुर्बुद्धि हैं । भाई ! यह आत्मा को साधने का अवसर है । तेरे खजाने में से जितना वैभव निकाले, उतना निकले, ऐसी बात है । अरे ! इस अवसर को कौन खोवे ? आनन्द का भण्डार खुले तो आनन्द को कौन न लेवे, बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने और अल्पायु राजकुमारों ने इस चैतन्य-खजाने को लेने हेतु बाहर के खजाने को छोड़-छोड़कर वन में गमन किया और अन्तर में ध्यान करके सर्वज्ञपद के अचिन्त्य खजाने को खोला; और उन्होंने जीवन सफल किया ।

इस प्रकार धर्मात्मा, आत्मा का आनन्द-खजाना कैसे बढ़े, उसी में उद्यमी है । जो दुर्बुद्धि जीव ऐसा उद्यम नहीं करता, तृष्णा की तीव्रता से परिग्रह को ही इकट्ठा किया करता है, उसका तो जीवन व्यर्थ है । दान के बिना गृहस्थ तो मोह के जाल में फँसे हुए के समान हैं । जिस प्रकार रसना-इन्द्रिय की तीव्र लोलुपी मछली जाल में फँस जाती है और दुःखी होती है; उसी प्रकार तीव्र लोलुपी गृहस्थ मिथ्यात्व-मोह के जाल में फँसा रहता है और संसार भ्रमण में दुःखी होता है । ऐसे संसार से बचने हेतु दान नौका समान है, अतः गृहस्थों को अपनी ऋद्धि के प्रमाण में दान करना चाहिए ।

‘ऋद्धि के प्रमाण में’ का अर्थ क्या ? लोखों-करोड़ों की सम्पत्ति में से पाँच-दस रुपया खर्चे—वह कोई ऋद्धि के प्रमाण में नहीं कहा जा सकता । अथवा अन्य कोई करोड़पति ने पाँच हजार खर्च किये और मैं तो उससे कम सम्पत्तिवाला हूँ—अतः मुझे तो उससे कम खर्च करना चाहिए—ऐसी तुलना न करे । मुझे तो मेरे राग घटाने हेतु करना है न ? उसमें दूसरे का क्या काम है ?

प्रश्न—हमारे पास थोड़ी सम्पत्ति है तो दान कहाँ से करें ?

उत्तर— भाई ! विशेष सम्पत्ति हो तो ही दान हो, ऐसी कोई बात नहीं। और तू तेरे संसार कार्यों में तो खर्च करता है या नहीं ? तो धर्मकार्य में भी उल्लासपूर्वक ओछी सम्पत्ति में से तेरी शक्तिप्रमाण खर्च कर। दान के बिना गृहस्थपना निष्फल है। अरे ! मोक्ष का उद्यम करने का यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा ! मोक्ष के लिए तो सभी राग छोड़ना पड़ेगा। यदि दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे जो नहीं बनता तो मोक्ष का उद्यम तू किस प्रकार करेगा ? अहा ! इस मनुष्यपने में आत्मा में रागरहित ज्ञानदशा प्रगट करने का प्रयत्न जो नहीं करता और प्रमाद से विषय-कषायों में ही जीवन बिताता है, वह तो मूढ़बुद्धि मनुष्यपना खो देता है; बाद में उसे पश्चाताप होता है कि अरे रे ! मनुष्यपने में हमने कुछ नहीं किया !

जिसे धर्म का प्रेम नहीं, जिस घर में धर्मात्मा के प्रति भक्ति के उल्लास से तन-मन-धन नहीं लगाया जाता, वह वास्तव में घर ही नहीं है परन्तु मोह का पिंजरा है, संसार का जेलखाना है। धर्म की प्रभावना और दान द्वारा ही गृहस्थपने की सफलता है।

मुनिपने में स्थित तीर्थकरों को अथवा अन्य महामुनियों को आहारदान देने पर रत्नवृष्टि होती है—ऐसी पात्रदान की महिमा है। एक बार आहारदान के प्रसंग में एक धर्मात्मा के यहाँ रत्नवृष्टि हुई, उसे देखकर किसी को ऐसा हुआ कि मैं दान दूँ, जिससे मेरे यहाँ भी रत्न बरसें।—ऐसी भावनासहित आहारदान दिया, आहार देता जावे और आकाश की ओर देखता जावे कि अब मेरे आँगन में रत्न बरसेंगे, परन्तु कुछ नहीं बरसा।—देखिये, इसे दान नहीं कहते, इसमें मूढ़ जीव के लोभ का पोषण है।

धर्मी जीव दान देवे, उसमें तो उसे गुणों के प्रति प्रमोद है और राग घटाने की भावना है। पहले मूर्खतावश कुदेव-कुगुरु पर जितना प्रेम था, उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम यदि देव-गुरु के प्रति न आवे तो उसने सच्चे देव-गुरु को वास्तव में पहचाना ही नहीं, माना ही नहीं, वह देव-गुरु का भक्त नहीं; उसे तो सत्तास्वरूप में कुलटा-स्त्री समान कहा है।

देखिये, इस जैनधर्म का चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है ! जैन श्रावक के आचरण किस प्रकार हों, उसकी यह बात है। राग की मन्दता के आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। एक राग के अंश का कर्तृत्व भी जिसकी दृष्टि में रहा नहीं, ऐसे

आचरण में भी राग कितना मन्द पड़ जाता है! पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि उसकी दृष्टि में कोई अपूर्वता नहीं आयी, उसकी रुचि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणति में अपूर्वता आ जाती है, परिणाम की उथलपुथल हो जाती है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें, ऐसा नहीं बनता। देव-गुरु के प्रति भक्ति, दान इत्यादि परिणाम की मन्दता का जिसको ठिकाना नहीं है, उसे तो सुधारने का प्रसंग नहीं है। जिज्ञासु की भूमिका में भी संसार की ओर के परिणामों की अत्यन्त ही मन्दता हो जाती है और धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

दानादि के शुभपरिणाम मोक्ष के कारण हैं—ऐसा चरणानुयोग में उपचार से कहा जाता है परन्तु उसमें स्वसन्मुखता द्वारा जितने अंश राग का अभाव होता है, उतने अंश मोक्ष का कारण जानकर दान को उपचार से मोक्ष का कारण कहा; इसप्रकार परम्परा से वह मोक्ष का कारण होगा, परन्तु किसे? जो शुभराग में धर्म मानकर नहीं अटके उसे। परन्तु शुभराग को ही जो वास्तव में मोक्ष कारण मानकर अटक जावेगा, उसके लिए तो वह उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं है। वीतरागी शास्त्रों का कोई भी उपदेश राग घटाने हेतु ही होता है, राग के पोषण हेतु नहीं होता।

अहो! जिसे अपनी आत्मा का संसार से उद्धार करना है, उसे संसार से उद्धार करने का मार्ग बतानेवाले देव-गुरु-धर्म के प्रति परम उल्लास आता है। जो भव से पार हो गये, उनके प्रति उल्लास से राग घटाकर स्वयं भी भव से पार होने के मार्ग में आगे बढ़ता है। जो जीव संसार से पार होने का इच्छुक होवे, उसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति प्रेम आता ही नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम तो संसार का ही कारण है।

प्रश्न—सच्चे देव-गुरु के प्रति प्रेम करना भी तो राग ही है न?

उत्तर—यह सत्य है, परन्तु सच्चे देव-गुरु की पहिचानसहित उनके सन्मुख का राग सवेरे की लालिमा जैसा है, उसके बाद थोड़े समय में ही वीतरागता से जगमगाता हुआ सूर्य उदय होगा और कुदेव आदि का राग तो सन्ध्या की लालिमा जैसा है, उसके पश्चात् अन्धकार है अर्थात् संसारभ्रमण है।

जहाँ धर्म के प्रसंग में आपत्ति पड़े, वहाँ तन-मन-धन अर्पण करने से धर्मी चूकता नहीं। उसे कहना नहीं पड़ता कि भाई! तुम ऐसा करो न! परन्तु संघ पर, धर्म पर अथवा साधर्मी पर जहाँ आपत्ति प्रसंग आवे और आवश्यकता पड़े, वहाँ धर्मात्मा अपनी सारी शक्ति के साथ तैयार ही रहता है। जिस प्रकार रण-संग्राम में राजपूत का शौर्य छिपता नहीं; उसी प्रकार धर्म-प्रसंग में धर्मात्मा का उत्साह छिपा नहीं रहता। धर्मात्मा का धर्मप्रेम ऐसा है कि धर्मप्रसंग में उसका उत्साह छिपा नहीं रह सकता, धर्म की रक्षा खातिर अथवा प्रभावना खातिर सर्वस्व स्वाहा करने का प्रसंग आवे तो भी पीछे मुड़कर नहीं देखता। ऐसे धर्मोत्साहपूर्वक दानादि का भाव श्रावक को भव-समुद्र से पार होने हेतु जहाज समान है। अतः गृहस्थों को प्रतिदिन दान देना चाहिए।

—इस प्रकार दान का उपदेश दिया गया, अब जिनेन्द्र भगवान के दर्शन का विशेष उपदेश दिया जाता है। ●●●

चैतन्य-विभूति

अरे! कहाँ मेरी चैतन्यविभूति! और कहाँ यह इन्द्रपद इत्यादि बाह्य पुण्य के ठाठ! यह पुण्य तो चैतन्य की विकृति का फल है, इसमें मेरी महत्ता नहीं है; मेरी महत्ता तो मेरे चैतन्य की विशुद्धता में ही है। चैतन्य की महत्ता में जो अतीन्द्रिय-आनन्द का समुद्र उछलता है, उसके समक्ष जगत के किसी भी फल की महत्ता ज्ञानी को नहीं है। ज्ञानी चैतन्य की विभूति के समक्ष जगत की विभूति को धूल के समान समझकर, त्याग करके चैतन्य की साधना करते हैं।

***** [१८] *****
*
* जिनेन्द्र-दर्शन का भावपूर्ण उपदेश *
*

*
* भगवान की प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान!' इस प्रकार एक *
* बार जो सर्वज्ञदेव के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्यगत कर ले तो कहते हैं कि *
* भव से तेरा बेड़ा पार है। प्रातः काल भगवान के दर्शन द्वारा अपने इष्ट-ध्येय *
* को स्मरण करके बाद में ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसी प्रकार स्वयं *
* भोजन करने के पूर्व मुनिवरों को याद करे कि अहा, कोई सन्त-मुनिराज *
* अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें और भक्ति-पूर्वक उन्हें भोजन करा *
* करके पीछे मैं भोजन करूँ। देव-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रवाह श्रावक के *
* हृदय में बहना चाहिए। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की *
* याद नहीं आती, धर्मात्मा सन्त-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, *
* व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है, तो तू ही विचार कर कि *
* तेरी परिणति किस ओर जा रही है ? *
*

भगवान सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक धर्मी श्रावक को प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि कार्य होते हैं, उनका वर्णन चल रहा है, उसमें सातवीं गाथा से प्रारम्भ करके सत्रहवीं गाथा तक अनेक प्रकार से दान का उपदेश किया। जो जीव जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन नहीं करता तथा मुनिवरों को भक्तिपूर्वक दान नहीं देता, उसका गृहस्थपना पत्थर की नौका के समान भव-समुद्र में डुबोनेवाला है—ऐसा अब कहते हैं:—

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः नस्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं न भक्त्या परम्।

सामर्थ्ये सति यद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥१८ ॥

अर्थ : जो मनुष्य समर्थ होने पर भी निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान ही देते हैं, उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रम में रहनेवाले गृहस्थ इस भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं और डूबकर नष्ट हो जाते हैं; इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव, गृहस्थाश्रम को तथा अपने जीवन और धन को पवित्र करना चाहते हैं, उनको जिनेन्द्र देव की पूजा-स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों के लिए दान अवश्य ही देना चाहिए ॥१८ ॥

हैं समर्थ पर नहीं करें जो जिन दर्शन-पूजन-स्तवन।
मुनिजन को नहीं दान करें जो उर में धरकर भक्ति परम ॥
उन समर्थ का गृह-आश्रय पद है पत्थर की नाव समान।
उसमें बैठ डूबते गहरे भव सागर में लहें विनाश ॥१८ ॥

सामर्थ्य होते हुए भी जो गृहस्थ हमेशा परम भक्ति से जिननाथ के दर्शन नहीं करता, अर्चन नहीं करता और स्तवन नहीं करता, तथा परम भक्ति से मुनिराजों को दान नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रमपद पत्थर की नाव के समान है। पत्थर की नौका के समान गृहस्थपद में स्थित हुआ वह जीव अत्यन्त भयंकर भवसागर में डूबता है और नष्ट होता है।

जिनेन्द्रदेव—सर्वज्ञ परमात्मा का दर्शन, पूजन, यह श्रावक का हमेशा का कर्तव्य है। प्रतिदिन के छह कर्तव्यों में भी सबसे पहला कर्तव्य जिनदेव का दर्शन-पूजन है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा निज के ध्येयरूप इष्टपद को स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसी प्रकार स्वयं भोजन के पूर्व मुनिवरों को याद करके, अहा! कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् मैं भोजन करूँ—इस प्रकार श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का प्रवाह बहना चाहिए। जिस घर में ऐसी देव-गुरु की भक्ति नहीं, वह घर तो पत्थर की नौका के समान डूबनेवाला है। छठवें अधिकार में (श्रावकाचार-उपासक संस्कार, गाथा ६५ में) भी कहा था कि दान बिन गृहस्थाश्रम पत्थर की नौका के समान है।

भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-सन्त-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है?—संसार की तरफ या धर्म की तरफ? आत्मप्रेमी हो, उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

**‘हरतां फरतां प्रगट हरि देखुं रे...
मारुं जीव्युं सफल तब लेखुं रे...’**

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि ‘जिनप्रतिमा जिनसारखी’ जिनप्रतिमा में जिनवरदेव की स्थापना है, उस पर से जिनवरदेव का स्वरूप जो पहिचान लेता है, उसीप्रकार जिनप्रतिमा को जिनसमान ही देखता है, उस जीव की भवस्थिति अति अल्प होती है, अल्पकाल में वह मोक्ष प्राप्त करता है। ‘षट्खण्डागम’ (भाग ६, पृष्ठ ४२७) में भी जिनेन्द्रदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत और निकाचित्ररूप मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसा कहा है। जिसकी रुचि में वीतरागी-सर्वज्ञस्वभाव प्रिय लगा है और संसार की रुचि जिसे छूट गयी है, इसलिए निमित्त में भी ऐसे वीतराग निमित्त के प्रति उसे भक्तिभाव उछला है। जो परमभक्ति से जिनेन्द्र-भगवान का दर्शन नहीं करता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वीतरागभाव नहीं रुचता और तिरने का निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है। जैसी रुचि होती है, वैसे सम्बन्धों की ओर रुचि जाए बिना नहीं रहती। इसलिए कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति नहीं उल्लसती, जिसे पूजा-स्तुति का भाव उत्पन्न नहीं होता, वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है। नियमसार में पद्मप्रभु मुनि कहते हैं कि—

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न शमस्ति ?

तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतां भवसि ॥१२॥

भवभय को छेदन करनेवाले ऐसे इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं?—यदि नहीं तो तू भवसमुद्र के बीच मगर के मुख में है।

अरे! बड़े-बड़े मुनि भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे जो ऐसा भाव नहीं आता और एकमात्र पाप में ही रचापचा रहता है तो तू भवसमुद्र में डूब जावेगा,

भाई! यदि तुझे इस भवदुःख के समुद्र में डूबना न हो और उससे तिरना हो तो संसार के तरफ की तेरी रुचि बदलकर वीतरागी देव-गुरु की ओर तेरे परिणाम को लगा; वे धर्म का स्वरूप क्या कहते हैं, उसे समझ और उनके कहे हुए आत्मस्वरूप को रुचि में ले; तो भवसमुद्र से तेरा छुटकारा होगा।

भगवान की मूर्ति में 'यह भगवान हैं' ऐसा स्थापनानिक्षेप वास्तव में सम्यग्दृष्टि को ही होता है क्योंकि सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रमाणज्ञान होता है; प्रमाणपूर्वक सम्यक्नय होता है; और नय के द्वारा सच्चा निक्षेप होता है। निक्षेप, नय बिना नहीं; नय, प्रमाण बिना नहीं; और प्रमाण, शुद्धात्मा की दृष्टि बिना नहीं। अहो! देखो तो सही, यह वस्तुस्वरूप!! जैनदर्शन की एक ही धारा चली आ रही है। भगवान की प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान!' ऐसा एक बार भी यदि सर्वज्ञदेव का यथार्थ स्वरूप लक्ष्यगत कर लिया, तो कहते हैं कि भव से तेरा बेड़ा पार है।

यहाँ एकमात्र दर्शन करने की बात नहीं की, परन्तु प्रथम तो 'परम भक्ति' से दर्शन करने को कहा है, उसी प्रकार अर्चन (पूजन) और स्तुति करने को भी कहा है। सच्ची पहिचानपूर्वक ही परम भक्ति उत्पन्न होती है और सर्वज्ञदेव की सच्ची पहिचान हो, वहाँ तो आत्मा का स्वभाव लक्ष्यगत हो जाता है, अर्थात् उसे दीर्घ संसार नहीं रहता। इस प्रकार भगवान के दर्शन की बात में भी गहरा रहस्य है। मात्र ऊपर से मान ले कि स्थानकवासी लोग मूर्ति को नहीं मानते और हम दिगम्बर जैन अर्थात् मूर्ति को माननेवाले हैं—ऐसे रूढ़िगत भाव से दर्शन करे, उसमें सच्चा लाभ नहीं होता। सर्वज्ञदेव की पहिचान सहित दर्शन करे तो ही सच्चा लाभ होता है। (यह बात 'सत्तास्वरूप' में बहुत विस्तार से समझायी है।)

अरे भाई! तुझे आत्मा के तो दर्शन करना नहीं आता और आत्मा के स्वरूप को देखने हेतु दर्पण समान ऐसे जिनेन्द्रदेव के दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जावेगा। भाई! जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे, ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं; मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है, वह घर धन्य है; इसके बिना घर तो श्मशानतुल्य है! अरे! वीतरागी सन्त अधिक क्या कहें? ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई! समुद्र के गहरे पानी में तिलांजलि दे देना!—नहीं तो यह तुझे डुबो देगा!

धर्मी जीव प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शनादि करते हैं। जिस प्रकार संसार का रागी जीव स्त्री-पुत्रादि के मुँह को अथवा चित्र को प्रेम से देखता है; उसी प्रकार धर्म का रागी जीव वीतराग-प्रतिमा का दर्शन भक्तिसहित करता है। राग की इतनी दशा बदलते भी जिससे नहीं बनती, वह वीतरागमार्ग को किस प्रकार साधेगा? जिस प्रकार प्रिय पुत्र-पुत्री को न देखे तो माता को चैन नहीं पड़ता, अथवा माता को न देखे तो बालक को चैन नहीं पड़ता; उसी प्रकार भगवान के दर्शन बिना धर्मात्मा को चैन नहीं पड़ता। 'अरे रे! आज मुझे परमात्मा के दर्शन न हुए, आज मैंने मेरे भगवान को नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथ के दर्शन आज मुझे नहीं मिले!' इस प्रकार धर्मी को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ता। (चेलना रानी को जिस प्रकार श्रेणिक के राज्य में पहले चैन नहीं पड़ता था; उसी प्रकार।) अन्तर में अपने धर्म की लगन है और पूर्णदशा की भावना है; इसलिए पूर्णदशा को प्राप्त भगवान को मिलने हेतु धर्मी के अन्तर में तीव्र इच्छा आ गयी है; साक्षात् तीर्थकर के वियोग में उनकी वीतरागप्रतिमा को भी जिनवर समान ही समझकर भक्ति से दर्शन-पूजा करता है; और वीतराग के प्रति बहुमान के कारण ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखनेवालों के रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव के दर्शन, मुनिवरों की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय, दानादि में श्रावक प्रतिदिन लगा रहता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि शक्ति होने पर भी प्रतिदिन जो जिनदेव के दर्शन नहीं करता, वह श्रावक ही नहीं, वह तो पत्थर की नौका में बैठकर भवसागर में डूबता है। तो फिर वीतराग-प्रतिमा के दर्शन-पूजन का जो निषेध करे, उसकी तो बात ही क्या करना?—इसमें तो जिनमार्ग की अति विराधना है। अरे! सर्वज्ञ को पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गयी, वैसी परमात्मदशा का जिसे प्रेम हो, उसे उनके दर्शन का उल्लास आये बिना कैसे रहे? वह तो प्रतिदिन भगवान के दर्शन करके अपनी परमात्मदशारूप ध्येय को प्रतिदिन ताजा रखता है।

भगवान के दर्शन की तरह मुनिवरों के प्रति भी परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी महान आदरपूर्वक भक्ति से मुनियों को आहारदान देते थे और अपने आँगन में मुनि पधारें, उस समय अपने को धन्य मानते थे! अहा! मोक्षमार्गी मुनि के दर्शन भी कहाँ!!—यह तो धन्य भाग्य और धन्य घड़ी। मुनि के विरहकाल में बड़े धर्मात्माओं के प्रति भी ऐसा

बहुमान का भाव आता है कि अहो, धन्य भाग्य, मेरे आँगन में धर्मात्मा के चरण पड़े! ऐसे धर्म के उल्लास से धर्मी श्रावक मोक्षमार्ग को साधता है और जिसे धर्म का ऐसा प्रेम नहीं, वह संसार में डूबता है। कोई कहे कि मूर्ति तो पाषाण की है!—परन्तु भाई! इसमें ज्ञानबल से परमात्मा का निक्षेप किया है कि—‘यह परमात्मा है।’—इस निक्षेप का इन्कार करना, ज्ञान का ही इन्कार करने समान है। जिनबिम्ब-दर्शन को तो सम्यग्दर्शन का निमित्त माना है; उस निमित्त का भी जो निषेध करे, उसे सम्यग्दर्शन का भी ज्ञान नहीं है। समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हमें तेरी स्तुति का व्यसन पड़ गया है। जिस प्रकार व्यसनी मनुष्य अपने व्यसन की वस्तु के बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार सर्वज्ञ के भक्तों को स्तुति का व्यसन है; इसलिए भगवान की स्तुति-गुणगान के बिना वे नहीं रह सकते। धर्मात्मा के हृदय में सर्वज्ञदेव के गुणगान चित्रित हो गये हैं।

अहा! साक्षात् भगवान देखने को मिलें—यह तो धन्य घड़ी है! कुन्दकुन्दाचार्य जैसों ने विदेह में जाकर सीमन्धनाथ को साक्षात् देखा।—इनकी तो क्या बात! यहाँ अभी तो ऐसा काल नहीं है। अरे! तीर्थकरों का विरह, केवलियों का विरह, महान सन्त-मुनियों का भी विरह—ऐसे काल में जिनप्रतिमा के दर्शन से भी धर्मी जीव भगवान के स्वरूप को याद करता है। जिसे वीतराग जिनमुद्रा को देखने की उमंग न हो, वह जीव संसार की तीव्र रुचि को लेकर संसार-सागर में डूबनेवाला है। वीतराग का भक्त तो वीतरागदेव का नाम सुनते ही और दर्शन करते ही प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सज्जन विनयवन्त पुत्र रोज सवेरे माता-पिता के पास जाकर विवेक से चरणस्पर्श करते हैं; उसी प्रकार धर्मी जीव, प्रभु के पास जाकर बालक जैसे होकर, विनय से प्रतिदिन धर्म-पिता जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हैं, उनकी स्तुति-पूजा करते हैं; मुनिवरों को भक्ति से आहारदान करते हैं। ऐसे वीतरागी देव-गुरु की भक्ति के बिना जीव मिथ्यात्व की नाव में बैठकर चारगति के समुद्र में डूबता है और बहुमूल्य मनुष्य-जीवन को नष्ट कर डालता है। अतः धर्म के प्रेमी जीव देव-गुरु की भक्ति के कार्यों में हमेशा अपने धन का और जीवन का सदुपयोग करें—ऐसा उपदेश है।

—इस प्रकार आचार्य, जिनेन्द्रदेव के दर्शन का तथा दान का उपदेश देकर अब दाता की प्रशंसा करते हैं। ●●●

***** [१९] *****
*
* धर्मात्मा इस कलियुग के कल्पवृक्ष हैं *
*

*
* आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्यफलरूप चिन्तामणि आदि की महिमा *
* हमें नहीं, हमें तो वह दाता ही उत्तम लगता है कि जो धर्म की आराधना *
* सहित दान करता है; अपनी शक्ति होते हुए भी धर्मकार्य रुके, ऐसा धर्मी *
* जीव देख नहीं सकता। *
*

धर्मात्मा-श्रावक दानादि द्वारा इस काल में कल्पवृक्ष आदि का कार्य करते हैं, ऐसा अब कहते हैं:—

चिन्तारत्न-सुरद्रु-कामसुरभि-स्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधत् दाता परं दृश्यते ॥१९॥

अर्थ : चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु, पारसपत्थर आदिक पदार्थ संसार में परोपकारी है, यह बात आज तक सुनी ही है किन्तु किसी ने अभी तक ये साक्षात् उपकार करते हुए देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसी में उपकार किया है, इस बात की भी संभावना नहीं की जाती परन्तु चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करनेवाला दाता (मनोवांछित दान देनेवाला) अवश्य देखने में आता है; इसलिए चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न चिन्तामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं ॥१९॥

कल्पवृक्ष चिन्तामणि रत्न कामधेनु इत्यादि पदार्थ।
 पर-उपकारी सुने किसी ने किन्तु नहीं देखा प्रत्यक्ष ॥
 उनके द्वारा किया किसी का हित यह प्रायः शक्य नहीं।
 ये सब कार्य करें दाता यह दिखता है प्रत्यक्ष महीं ॥१९॥

जगत में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और पारस पत्थर परोपकार करने में प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ उपकार करते हुए उनको किसी ने नहीं देखा; उसी प्रकार उन्होंने किसी को उपकृत नहीं किया और यहाँ उनकी सम्भावना भी प्रायः नहीं है परन्तु दाता अकेला मनोवांछित दान से सदैव चिन्तामणि आदि का काम करते हुए देखने में आता है। अतः दाता पुरुष ही उन चिन्तामणि आदि पदार्थों से उत्तम है।

धर्मात्मा के लिए परमार्थरूप से चिन्तामणि तो अपनी आत्मा है कि जिसके चिन्तन से केवलज्ञान और सम्यग्दर्शन आदि निधान प्रगट होते हैं। इस चैतन्य चिन्तामणि के सामने बाहर के चिन्तामणि आदि की वांछा ज्ञानी को नहीं है, तथापि पुण्य के फल में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि वस्तुएँ होती हैं अवश्य। उनके चिन्तन से बाह्य सामग्री वस्त्र-भोजनादि मिलते हैं, परन्तु उनके पास से धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादि नहीं मिलता है। तीसरे काल में इस भरतभूमि में भी कल्पवृक्ष इत्यादि थे, समवसरण में भी वे होते हैं। आजकल लोगों के पुण्य घट गये हैं, इसलिए वे वस्तुएँ यहाँ देखने में नहीं आती; परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे पुण्यफल की महिमा हमें नहीं है, हमें तो वह दाता ही उत्तम लगता है कि जो धर्म की आराधना सहित दान करता है। दान के फल में कल्पवृक्ष आदि तो इसके पास सहजरूप में आवेंगे।

पारस पत्थर, लोहे में से सोना करता है—इसमें क्या!—इस चैतन्य चिन्तामणि का स्पर्श होते ही आत्मा पामर में से परमात्मा बन जाता है—ऐसा चिन्तामणि ज्ञानी के हाथ में आ गया है। वह धर्मात्मा अन्तर में राग घटाकर धर्म की वृद्धि करता है और बाह्य में भी धर्म की वृद्धि कैसे हो, देव-गुरु की प्रभावना और महिमा कैसे बढ़े और धर्मात्मा-साधर्मि को धर्मसाधन में किस प्रकार अनुकूलता हो, ऐसी भावना से वह दानकार्य करता है। जब आवश्यकता हो तब, और जितनी आवश्यकता हो उतना देने के लिए वह सदैव तैयार रहता

है, इसलिए वह वास्तव में चिन्तामणि और कामधेनु है। दाता पारसमणि के समान है, क्योंकि उसके सम्पर्क में आनेवाले की दरिद्रता वह दूर करता है।

मेरुपर्वत के पास देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि है, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वे इच्छित सामग्री देते हैं, वहाँ जुगलिया जीव होते हैं और कल्पवृक्ष से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। दान के फल में जीव वहाँ जन्म लेता है। यहाँ भी प्रथम-द्वितीय-तृतीय काल में ऐसे कल्पवृक्ष थे, परन्तु वर्तमान में नहीं हैं; इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि ये कल्पवृक्ष आदि प्रसिद्ध होते हुए भी वर्तमान में यहाँ तो वे किसी का उपकार करते देखने में नहीं आते। यहाँ तो दातार श्रावक ही इच्छित दान उपकार करता देखने में आता है। चिन्तामणि आदि तो वर्तमान में श्रवणमात्र हैं, दिखते नहीं, परन्तु चिन्तामणि की तरह उदारता से दान करनेवाला धर्मी—श्रावक तो वर्तमान में भी दिखायी पड़ता है।

देखो, नौ सौ वर्ष पूर्व पद्मनन्दी मुनिराज ने यह रचा है; उस समय ऐसे श्रावक थे। पद्मनन्दी मुनिराज महान सन्त थे, वनवासी दिगम्बर सन्तों ने सर्वज्ञ के वीतरागमार्ग की यथार्थ प्रणाली को टिका रखा है। दिगम्बर मुनि तो जैनशासन के स्तम्भ हैं। पद्मनन्दी मुनिराज ने इस शास्त्र में वैराग्य और भक्ति के उपदेश की रेलमछेल की है, उसी प्रकार निश्चय-पंचाशत् आदि अधिकारों में शुद्धात्मा के अध्यात्मस्वरूप का वर्णन किया है। कुन्दकुन्दस्वामी का दूसरा नाम 'पद्मनन्दीस्वामी' था। परन्तु यह पद्मनन्दी मुनि तो उनके पीछे लगभग हजार वर्ष बाद हुए। वे कहते हैं कि दान करनेवाला उत्तम श्रावक धर्मात्मा चिन्तामणि समान है।

संघ में जरूरत पड़े अथवा जिनमन्दिर नया-बड़ा कराना हो तो श्रावक कहता है—
'कितना खर्च होगा?' कि सवा लाख रुपया।

वह तुरन्त कहता है—यह लो और उत्तम मन्दिर बनवाओ।

इस प्रकार उदारता से दान देनेवाले धर्मात्मा थे। इसके लिए घर-घर जाकर चन्दा नहीं करना पड़ता था। अपनी शक्ति होते हुए भी धर्म का कार्य रुके, वह धर्मी जीव देख नहीं सकता। इसलिए कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावक ही उदारता से मनोवांछित दान देनेवाला चिन्तामणि—कल्पवृक्ष और कामधेनु है। जब आवश्यकता पड़े तब दे। आवश्यकता

पड़ने पर दान न दे तो वह दातार कैसा ? धर्मप्रसंग में आवश्यकता पड़ने पर दाता छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार देश के लिये भामाशाह ने (जो जैन थे), अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति महाराणा प्रताप के सामने रख दी थी, उसी प्रकार धर्मी जीव, धर्म के लिए जरूरत पड़ने पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। दाता को चिन्तामणि आदि से भी दान प्रिय है; क्योंकि चिन्तामणि आदि वस्तुएँ जो उपकार करती हैं, वह तो पूर्व में सत्पात्रदान से जो पुण्य बँधा, उसके कारण से है; इसलिए वास्तव में दाता में ही यह सब समा जाता है—इस प्रकार दाता की प्रशंसा की गयी।

अब जहाँ धर्मात्मा श्रावक रहते हों, वहाँ अनेक प्रकार से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है, यह बतलाकर उसकी प्रशंसा करते हैं। ●●●

 * किसी को ऐसा लगे कि जंगल में मुनि को अकेले-अकेले कैसे अच्छा *
 * लगता होगा ? अरे भाई ! जंगल में भी निजानन्द में झूलते हुए मुनि तो परम सुखी *
 * हैं; जगत के राग-द्वेष का कोलाहल वहाँ नहीं है; किसी परवस्तु के साथ आत्मा *
 * का मिलन ही नहीं है, इसलिए पर के सम्बन्धरहित आत्मा स्वयमेव अकेला *
 * अपने में परम सुखी है। पर के सम्बन्ध से आत्मा को सुख है—ऐसा उसका *
 * स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्मा का अनुभव करते हैं और *
 * उसी को उपादेय जानते हैं। *

***** [२०] *****
*
* धर्मी-श्रावकों द्वारा धर्म का प्रवर्तन *
*

* गुणवान श्रावकों द्वारा धर्म की प्रवृत्ति चला करती है, इसलिए वे *
* श्रावक प्रशंसनीय हैं। श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि अर्पण करके *
* भी धर्म की प्रभावना किया करते हैं। सन्तों के हृदय में धर्म की प्रभावना का *
* भाव होता है; धर्म की शोभा के लिए धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय लगा देते *
* हैं—ऐसी धर्म की लगन उनके अन्तर में होती है। *

जहाँ धर्मी श्रावक निवास करता हो, वहाँ धर्म की कैसी प्रवृत्ति चलती है, वह
बतलाते हैं—

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैः वर्तते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥२०॥

अर्थ : जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ पर जिनमन्दिर होता
है और जहाँ पर जिनमन्दिर होता है, वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं और जहाँ पर
यतीश्वरों का निवास होता है, वहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है तथा जहाँ पर धर्म की
प्रवृत्ति रहती है, वहाँ पर अनादि काल से संचय किये हुए प्राणियों के पापों का नाश
होता है तथा भावि काल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है; इसलिए
गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिए ॥२०॥

जिस नगरी में श्रावक रहते वहाँ जिनालय निश्चित हो ।
 चैत्यालय में बसें यतीश्वर जिनसे धर्म प्रवर्तन हो ॥
 संचित पाप नष्ट होते हैं स्वर्ग मोक्ष जन्मान्तर में ।
 प्राप्त धर्म से अतः गुणीजन श्रावक का सन्मान करें ॥२०॥

जहाँ ऐसे धर्मात्मा श्रावकजन निवास करते हों, वहाँ चैत्यालय-जिनमन्दिर होता है और जिनमन्दिर हो, वहाँ मुनि आदि धर्मात्मा आते हैं और वहाँ धर्म की प्रवृत्ति चलती है । धर्म द्वारा पूर्व संचित पापों का नाश होता है और स्वर्ग-मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है । इस प्रकार धर्म की प्रवृत्ति का कारण होने से गुणवान पुरुषों द्वारा श्रावक इष्ट है-आदरणीय है-प्रशंसनीय है ।

श्रावक जहाँ निवास करता हो, वहाँ दर्शन-पूजन के लिए जिनमन्दिर बनवाता है । अनेक मुनि आदि विहार करते-करते, जहाँ जिनमन्दिर होता है, वहाँ आते हैं और उनके उपदेश आदि से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है, तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है । श्रावक हो, वहाँ ही यह सब होता है । इसलिए भव्य जीवों को ऐसे उत्तम श्रावक का आदर-सत्कार करना चाहिए । 'संमताः' अर्थात् कि यह इष्ट है, धर्मात्माओं को मान्य है, प्रशंसनीय है ।

देखिये, जहाँ श्रावक रहते हों, वहाँ जिनमन्दिर तो होना ही चाहिए । थोड़े श्रावक हों और छोटा गाँव हो तो दर्शन-पूजन हेतु चाहे छोटा-सा ही चैत्यालय पहिले बनवावे । पूर्व काल में कई श्रावक घर में ही चैत्यालय स्थापित करते थे । देखिये न, मूड़बिद्री (दक्षिण देश) में रत्नों की कैसी जिन-प्रतिमाएँ हैं !! ऐसे जिनदेव के दर्शन से तथा मुनि आदि के उपदेश-श्रवण से पूर्व के बँधे हुए पाप क्षण में छूट जाते हैं । पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामों में जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावक का चले ही नहीं । दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है । जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो, वह गाँव तो श्मशानतुल्य कहा गया है । अतः जहाँ-जहाँ श्रावक होते हैं, वहाँ जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकार के उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है और इसके द्वारा पाप का नाश तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है । जिनबिम्ब दर्शन से निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्म के भी सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं, ऐसा उल्लेख सिद्धान्त में है; धर्म की रुचि सहित की यह बात है ।

‘अहो ! यह मेरे ज्ञायकस्वरूप प्रतिबिम्ब ! ऐसे भाव से दर्शन करने पर, सम्यग्दर्शन न हो तो नया सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और अनादि के पापों का नाश हो जाता है, मोक्षमार्ग खुल जाता है। गृहस्थ-श्रावकों द्वारा ऐसे जिनमन्दिर की और धर्म की प्रवृत्ति होती है, अतः आचार्यदेव कहते हैं कि वे श्रावक धन्य हैं ! गृहस्थावस्था में रहनेवाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं, वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्म की ऐसी प्रभावना करती है, वह श्राविका-धर्मात्मा भी जगत के जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न, चेलनारानी ने जैनधर्म की कितनी प्रभावना की !! इस प्रकार गृहस्थावस्था में रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्यौछावर करके भी धर्म की प्रभावना करते रहते हैं। सन्तों के हृदय में धर्म की प्रभावना के भाव रहते हैं, धर्म की शोभा हेतु धर्मात्मा-श्रावक अपना जीवन भी अर्पण कर देते हैं, ऐसी धर्म की तीव्र लगन इनके हृदय में होती है। ऐसे श्रावकधर्म का यहाँ पद्मनन्दीस्वामी ने इस अधिकार में प्रकाश किया है—उद्योत किया है। इसका विस्तार और प्रचार करने जैसा है; अतः अपने प्रवचन में यह अधिकार तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। (इस पुस्तक में तीनों बार के प्रवचनों का संकलन है।)

देखिये, इस श्रावकधर्म में भूमिकानुसार आत्मा की शुद्धि तो साथ ही वर्तती है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक उत्तम देवगति सिवाय अन्य किसी गति में नहीं जाता—यह नियम है। स्वर्ग में जाकर वहाँ भी वह जिनेन्द्रदेव की भक्ति-पूजन करता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते सन्त प्रमोद से कहते हैं कि अहो ! स्वर्ग-मोक्ष की प्रवृत्ति का कारणरूप वह धर्मात्मा श्रावक हमें सम्मत है, गुणीजनों द्वारा आदरणीय है।

श्रावक अकेला हो तो भी अपनी शक्ति अनुसार दर्शन हेतु जिनमन्दिर आदि बनवावे। जिस प्रकार पुत्र-पुत्री के विवाह में अपनी शक्ति अनुसार धन उमंगपूर्वक खर्च करता है; वहाँ अन्य के पास चन्द कराने के लिए नहीं आता; उसी प्रकार धर्मी जीव जिनमन्दिर आदि हेतु अपनी शक्ति के अनुसार धन खर्च करता है। अपने पास शक्ति होते हुए भी धन न खर्चे और अन्य के पास माँगने जाए—यह शोभा नहीं देता। जिनमन्दिर तो धर्म की प्रवृत्ति का मुख्य स्थान है। मुनि भी वहाँ दर्शन करने आते हैं। गाँव में किसी धर्मात्मा का आगमन हो तो वह भी जिनमन्दिर तो जरूर आता है। उत्तम काल में तो ऐसा

होता था कि मुनिवर आकाश में गमन करते समय नीचे मन्दिर देखकर दर्शन करने आते थे और महान धर्मप्रभावना होती थी! अहो! ऐसे वीतरागी मुनि का वर्तमान में तो दर्शन होना कठिन है।

वन में विचरण करनेवाले सिंह जैसे मुनिवरों के दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं परन्तु धर्म की प्रवृत्ति धर्मात्मा श्रावकों द्वारा चला करती है, इसलिए ऐसे श्रावक प्रशंसनीय हैं। ●●●

सुख का उपाय

भाई! तुझे सुखी होना हो तो अपने ज्ञान में परमात्मा की स्थापना कर, बाह्य विषयों को स्थान न दे। आनन्द तो तेरा स्वरूप है, उसमें विषयों की आवश्यकता कहाँ है? इसलिए तो कहते हैं कि हे जीव! सुख अन्तर में है, उसे बाह्य में न ढूँढ़। जगत को सन्तुष्ट करने में और जगत से सन्तुष्ट होने में तो जीव ने अनन्त काल गँवा दिया, परन्तु उसमें किंचित् सुख नहीं... अन्तर्मुख रुचि द्वारा अपने आत्मा को सन्तुष्ट कर और आत्मा के स्वभाव से तू सन्तुष्ट हो, तो तुझे सच्चे सुख का अनुभव होगा। संयोग द्वारा सन्तुष्ट न हो, राग द्वारा सन्तुष्ट न हो, आनन्द का भण्डार तुझमें भरा है, उसमें तू सन्तुष्ट हो, प्रसन्न हो, आनन्दित हो।

जिसने चैतन्य का सुख देख लिया, वह धर्मात्मा जगत के किसी विषय में लुभाता नहीं है। चैतन्य में भरा हुआ अनन्त सुख का भण्डार धर्मी को ऐसा रुचिकर है कि वह उसी के स्वाद में तल्लीन हो जाता है। अनन्त सुख के धाम में जो लुभाया, वह किन्हीं सांसारिक विषयों के लालच में नहीं फँसता। सांसारिक पदार्थों की लालसा उसे छूट गयी और चैतन्यानन्द के अनुभव की उत्कृष्ट लालसा (प्रीति) जागृत हुई; उसमें तल्लीन-एकाग्र होकर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

***** [२१] *****
*
* जिनेन्द्र-भक्तिवन्त श्रावक धन्य है! *
*

*
* श्रावक प्रगाढ़ जिनभक्ति से जैनधर्म को शोभित करता है। शान्त *
* दशा प्राप्त धर्मी जीव किस प्रकार के होते हैं और वीतरागी देव-गुरु के प्रति *
* उनकी भक्ति का उल्लास कैसा होता है, उसका भी जीवों को ज्ञान नहीं। *
* इन्द्र जैसे भी भगवान के प्रति भक्ति से कहते हैं कि हे नाथ! इस वैभव- *
* विलास में रहा हुआ हमारा यह जीवन कोई जीवन नहीं, सच्चा जीवन तो *
* आपका है.. केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन से आप ही जी *
* रहे हैं। *

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेधर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम् ॥२१॥

अर्थ : इस दुःखम नाम काल में जिनेन्द्र भगवान के धर्म के क्षीण होने से तथा आत्मा के ध्यान करनेवाले मुनिजनों की विरलायत से और गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के फैल जाने से जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में तथा जिनमन्दिरों में भक्तिसहित थे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे, वे मनुष्य इस समय देखने में नहीं आते हैं किन्तु जो भव्यजीव इस समय भी विधि के अनुसार उन जिनमन्दिर आदि कार्यों को करता है, वह सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं ॥२१॥

दुःखमा नामक कलिकाल में जिनवर कथित धर्म है क्षीण ।
 समभावी मुनिराज विरल हैं अतः प्रबल है मोह तिमिर ॥
 जिनमन्दिर जिनप्रतिमा के प्रति भक्तिवन्त नर नहीं दिखें ।
 भव्य यथाविधि करें कार्य ये सज्जन उनको नमन करें ॥२१ ॥

इस दुःखमा काल में जब कि जिनेन्द्र भगवान का धर्म क्षीण होता जाता है, जैनधर्म के आराधक धर्मात्मा-जीव भी बहुत थोड़े हैं और मिथ्यात्व-अन्धकार बहुत फैल रहा है, जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा के प्रति भक्तिवन्त जीव भी बहुत नहीं दिखते, ऐसे इस काल में जो जीव विधिपूर्वक जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमा कराते हैं, वे भव्य जीव सज्जनों द्वारा वन्दनीय हैं ।

जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजते हैं, वहाँ तो धर्म की अविरत धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्म की आराधना करते हैं । परन्तु वर्तमान में तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया है । तीर्थंकरों का विरह, मुनिवरों की भी दुर्लभता, विपरीत मान्यता के पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गों का अन्त नहीं—ऐसी विषमता के समूह के बीच में भी जो जीव धर्म के प्रेम को स्थिर रखकर भक्ति से जिनमन्दिर आदि बनवाते हैं, वे धन्य हैं ! स्तवन में भी आता है कि—

चैत्यालय जो करें धन्य सो श्रावक कहिये,
 तामें प्रतिमा धरें धन्य सो भी सरदहिये ।

पूर्व में तो भरत चक्रवर्ती सरीखे ने भी कैलाशपर्वत पर तीन चौबीसी तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिम्बों की स्थापना की थी । दूसरे भी अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धर्मात्माओं ने विशाल जिनमन्दिर बनवाये थे । देखो तो, मूड़बिद्री में 'त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि' जिनमन्दिर कितना बड़ा है ! जिसके एक हजार तो स्तम्भ हैं और महामूल्य रत्नों की ३५ मूर्तियाँ भी वहाँ हैं, ये भी धर्मात्मा श्रावकों ने दर्शन हेतु स्थापी हैं । श्रवण-बेलगोला में भी इन्द्रगिरि पहाड़ में खुदी हुई ५७ फीट ऊँची बाहुबली भगवान की प्रतिमा कितनी अद्भुत है । अहा, जैसे वीतरागता का पिण्ड हो ! पवित्रता और पुण्य दोनों इसमें दिखायी दे रहे हैं । इस प्रकार श्रावक बहुत भक्ति से जिनबिम्ब स्थापित और जिनमन्दिर निर्माण करता है ।

आजकल तो यहाँ अनार्यवृत्तिवाले बहुत और आर्यजीव थोड़े, उसमें भी जैन थोड़े, उसमें भी धर्म के जिज्ञासु बहुत थोड़े, और उनमें भी धर्मात्मा और साधु तो अत्यन्त विरले। वस्तुतः वे तीनों काल में विरल हैं परन्तु वर्तमान में यहाँ तो बहुत ही विरले हैं। जहाँ दंखो वहाँ कुदेव और मिथ्यात्व का जोर फैला हुआ है। ऐसे कलिकाल में भी जो जीव भक्तिपूर्वक जिनालय और जिनबिम्ब की विधिपूर्वक स्थापना करते हैं, वे जिनदेव के भक्त, सम्यग्दृष्टि, धर्म के रुचिवन्त हैं और ऐसे धर्मी जीवों की सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

देखो, भाई! जिनमार्ग में वीतराग-प्रतिमा अनादि की है। स्वर्ग में शाश्वत् जिन-प्रतिमाएँ हैं, नन्दीश्वर में हैं, मेरुपर्वत पर हैं। पाँच सौ धनुष्य के रत्नमय जिनबिम्ब ऐसे अलौकिक हैं—मानों कि साक्षात् तीर्थकर हों और अभी वाणी खिरेगी!! कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास की अष्टाह्निका में इन्द्र और देव नन्दीश्वर जाकर महाभक्तिपूर्वक दर्शन-पूजन करते हैं। शास्त्रों में अनेक प्रकार के महा पूजन कहे हैं—इन्द्र द्वारा पूजा हो, वह इन्द्रध्वज पूजा है; चक्रवर्ती किमिच्छक दानपूर्वक राजाओं के साथ जो महा पूजा करता है, उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं; अष्टाह्निका में जो विशेष पूजा हो, उसे अष्टाह्निका पूजन कहते हैं, मुकुटबद्ध राजा जो पूजन कराते हैं, उसे सर्वतोभद्र अथवा महामहः पूजा कहते हैं, प्रतिदिन श्रावक जो पूजा करे, वह नित्यमहः पूजन है।

भरत चक्रवर्ती महापूजन रचाते थे, उसका विशद वर्णन आदिपुराण में आता है। सूर्य के अन्दर शाश्वत जिनबिम्ब हैं, भरत चक्रवर्ती को चक्षु सम्बन्धी ज्ञान का इतना तीव्र क्षयोपशम था कि वे अपने महलों से सूर्य में रहे हुए जिनबिम्ब का दर्शन करते थे। उस पर से प्रातः सूर्यदर्शन का रिवाज प्रचलित हो गया। लोग मूल वस्तु को भूल गये और सूर्य को पूजने लगे। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर जिनप्रतिमा का वर्णन आता है। अरे, स्थानकवासी द्वारा माने हुए आगम में भी जिनप्रतिमा का उल्लेख आता है परन्तु वे उसका अर्थ विपरीत करते हैं। एक बार संवत् १९७८ में मैंने (पूज्य श्री कानजीस्वामी ने) एक पुराने स्थानकवासी साधु से पूछा कि इन शास्त्रों में जिनप्रतिमा का भी वर्णन आता है,—क्योंकि 'जिन के शरीर-प्रमाण ऊँचाई' ऐसी उपमा दी है, यदि यह प्रतिमा यक्ष की हो तो जिन की उपमा नहीं देते।—तब उस स्थानकवासी साधु ने यह बात स्वीकार की और कहा कि आपकी बात सत्य है—'है तो ऐसा ही'। तीर्थकर की ही प्रतिमा है; परन्तु बाहर में ऐसा नहीं बोला जाता।

तब ऐसा लगा कि अरे ! यह क्या !! अन्दर कुछ माने और बाह्य में दूसरी बात कहे—ऐसा भगवान का मार्ग नहीं होता। इन जीवों को आत्मा की दरकार नहीं; भगवान के मार्ग की दरकार नहीं; सत्य के शोधक जीव ऐसे सम्प्रदाय में नहीं रह सकते। जिनमार्ग में वीतराग मूर्ति की पूजा अनादि से चली आ रही है; बड़े-बड़े ज्ञानी भी उसे पूजते हैं। जिसने मूर्ति का निषेध किया, उसने अनन्त ज्ञानियों की विराधना की है।

शास्त्र में तो ऐसी कथा आती है कि जब महावीर भगवान राजगृही में पधारे और श्रेणिक राजा उनकी वन्दना करने जाते हैं, तब एक मेंढक भी भक्ति से मुँह में फूल लेकर प्रभु की पूजा करने जाता है; वह राह में हाथी के पैर के नीचे दबकर मर जाता है और देवपर्याय में उत्पन्न होकर तुरन्त भगवान के समवसरण में आता है। धर्मी जीव भगवान के दर्शन करते हुए साक्षात् भगवान को याद करता है कि अहो, भगवान ! अहो सीमन्धरनाथ ! आप विदेहक्षेत्र में हो और मैं यहाँ भरतक्षेत्र में हूँ, आपके साक्षात् दर्शन का मुझे विरह हुआ। प्रभो ! ऐसा अवसर कब आवे कि आपका विरह दूर हो, अर्थात् राग-द्वेष का सर्वथा नाश करके आप जैसा वीतराग कब होऊँ ! धर्मी ऐसी भावना द्वारा राग को तोड़ता है, अर्थात् भगवान से वह क्षेत्र अपेक्षा दूर होते हुए भी भाव से समीप है कि हे नाथ ! इस वैभव-विलास में रचापचा हमारा जीवन, यह कोई जीवन नहीं; वास्तविक जीवन तो आपका है; आप केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जी रहे हो, वही सच्चा जीवन है। प्रभो ! हमें भी यही उद्यम करना है। प्रभो ! वह घड़ी धन्य है कि जब मैं मुनि होकर आपके जैसा केवलज्ञान का साधन करूँगा। ऐसा पुरुषार्थ नहीं जागता, तब तक धर्मी जीव श्रावकधर्म का पालन करता है और दान, जिनपूजा आदि कार्यों द्वारा वह अपने गृहस्थ जीवन को सफल करता है।

वर्तमान में तो मुनियों की दुर्लभता है और मुनि हों तो भी कोई जिनमन्दिर बनवाने या पुस्तक छपवाने जैसी प्रवृत्ति नहीं करते; बाह्य की कोई प्रवृत्ति का भार मुनि अपने सिर पर नहीं रखते, ऐसा कार्य तो श्रावक ही करते हैं। उत्तम श्रावक प्रगाढ़ भक्तिसहित जिनमन्दिर बनावे, प्रतिष्ठा करावे, उसकी शोभा बढ़ावे, कहाँ क्या चाहिए; और किस प्रकार धर्म की शोभा बढ़ेगी—ऐसी प्रगाढ़ भक्ति करता है।

चलो जिनमन्दिर दर्शन करने,
 चलो प्रभु की भक्ति करने,
 चलो धर्म का महोत्सव करने,
 चलो कोई तीर्थ की यात्रा करने,

—इस प्रकार श्रावक-श्राविका प्रगाढ़ भक्ति से जैनधर्म को शोभित करे। अहा, शान्तदशा को प्राप्त धर्मी जीव कैसा होता है और वीतरागी देव-गुरु की भक्ति का उसे उल्लास कैसा होता है, उसकी भी जीवों को खबर नहीं। पूर्व समय में तो वृद्ध, युवा, बहिनें और बालक सभी धर्म प्रेमी थे और धर्म द्वारा अपनी शोभा मानते थे। इसके बदले वर्तमान में तो सिनेमा का शौक बढ़ा है और स्वच्छन्द फूट पड़ा है। ऐसे विषमकाल में भी जो जीव जिनभक्तिवाला है, धर्म का प्रेमी है और जिनमन्दिर आदि बनवाता है—ऐसे श्रावक धन्य हैं! ●●●

चैतन्यमेरु आत्मा

शुद्धता के मेरुपर्वत जैसा वह चैतन्यस्वभाव है, इसमें कहीं भी विकार भरा हुआ नहीं है। असंख्य प्रदेशी आत्मा अचल मेरु है, वह चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी निजस्वरूप से चलित नहीं होता, उसके गुण का एक अंश भी चलित नहीं होता, नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार मेरु पर्वत ऐसा स्थिर है कि चाहे जैसे झंझावात में भी चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार चैतन्यमेरु आत्मा निजस्वभाव में ऐसा अडोल है कि प्रतिकूलता की आँधी उसे चलित नहीं कर सकती, कोई भी गुण या परिणति नष्ट नहीं होती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला धर्मात्मा प्रतिकूल संयोग के चक्रव्यूह के बीच भी स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से चलित नहीं होते। वह निःशंक जानते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ।

***** [२२] *****
*
* सच्ची जिनभक्ति में वीतरागता का आदर *
*

*
* धर्मी के थोड़े शुभभाव का भी महान फल है—तो इसकी शुद्धता *
* की महिमा की तो क्या बात! जिसे अन्तर में वीतरागभाव रुचा, उसे *
* वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति कितना उत्साह हो! जिनमन्दिर बनवाने *
* की बात तो दूर रही परन्तु वहाँ दर्शन करने का भी जिसे अवकाश नहीं— *
* उसे धर्म का प्रेम कौन कहे ? *
*

वीतरागी जिनमार्ग के प्रति श्रावक का उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है, वह कहते हैं—

बिम्बादलोल्लसति यवोल्लसतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य ॥२२ ॥

अर्थ : आचार्य कहते हैं जो भव्य जीव इस संसार में भक्तिपूर्वक यदि छोटे से छोटे बिम्बा (कुन्दुक) पत्ते के समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिन प्रतिमा को भी बनावे तो उस मनुष्य को भी इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसको और की तो क्या बात ? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती, किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर तथा जिन प्रतिमाओं का बनानेवाला है, उसको तो फिर अगम्यपुण्य की ही प्राप्ति होती है ॥२२ ॥

कुन्दु पत्र समान लघु भी जिनालय जो भवि करें।
 जौ समान जिनेन्द्र प्रतिमा भक्ति से उसमें धरें ॥
 उन्हें कितना पुण्य होगा सरस्वती नहिं कह सकें।
 करें दोनों कार्य जो भवि उन्हें कितना पुण्य हो ॥२२ ॥

जो जीव भक्ति से बेल के पत्र जितना छोटा जिनमन्दिर बनवाता है और जो जौ के दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है, उसके महान पुण्य का वर्णन करने के लिए इस लोक में सरस्वती (-वाणी) भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव यह दोनों कराता है, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है—उसके पुण्य की तो क्या बात !

देखो, इसमें 'भक्तिपूर्वक' की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सम्मान के लिए अथवा देखादेखी से कितने ही पैसे खर्च कर दे, उसकी यह बात नहीं परन्तु भक्तिपूर्वक, अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवान की कुछ पहचान हुई है और अन्तर में बहुमान पैदा हुआ है कि अहो! ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव! ऐसे भगवान को मैं अपने अन्तर में स्थापित करूँ और संसार में भी इनकी प्रसिद्धि हो—ऐसे बहुमान से भक्तिभावपूर्वक जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर बनवाने का भाव जिसे आता है, उसे उच्च जाति का लोकोत्तर पुण्य बँधता है क्योंकि उसके भावों में वीतरागता का बहुमान हुआ है।—पश्चात् भले ही प्रतिमा बड़ी हो या छोटी परन्तु उसकी स्थापना में वीतरागता का बहुमान और वीतरागता का आदर है, यही उत्तम पुण्य का कारण है।

भगवान की मूर्ति को यहाँ 'जिनाकृति' कहा है, अर्थात् अरहन्त-जिनदेव की जैसी निर्विकार आकृति होती है, वैसी ही निर्दोष आकृतिवाली जिनप्रतिमा होती है। जिनेन्द्र भगवान, वस्त्र-मुकुट नहीं पहिनते और इनकी मूर्ति वस्त्र-मुकुट सहित हो तो उसे जिनाकृति नहीं कहते। 'जिनप्रतिमा जिनसारखी, भाखी आगम माँय'—ऐसी निर्दोष प्रतिमा जिनशासन में पूजनीय है।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो! जो जीव, भक्ति से ऐसा वीतराग जिनबिम्ब और जिनप्रतिमा बनवाता है, उसके पुण्य की महिमा वाणी से कैसे कही जा सकती है? देखो तो सही, धर्मों के अल्प शुभभाव का इतना फल! तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात!! जिसे

अन्तर में वीतरागभाव रुचा, उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो!! एक उदाहरण इस प्रकार आता है कि—एक सेठ जिनमन्दिर बनवाता था, उसमें काम करते हुए पत्थर की जितनी रज कारीगर द्वारा निकाली जाती, उसके वजन के बराबर चाँदी देता था! सेठ के मन में ऐसा भाव था कि अहो! मेरे भगवान का मन्दिर बन रहा है तो उसमें कारीगरों को भी मैं प्रसन्न करूँ, जिससे मेरे मन्दिर का काम सुन्दर हो। उस समय के कारीगर भी सच्चे हृदयवाले थे। वर्तमान में तो लोगों की वृत्ति में बहुत फेरफार हो गया है। यहाँ तो भगवान के भक्त श्रावक-धर्मात्मा को जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा का कैसा शुभराग होता है?—वह बतलाया है।

संसार में देखो तो, पाँच—दस लाख रुपयों की कमाई हो और लाख—दो लाख रुपये खर्च करके बँगला बनवाता हो तो कितनी होंश करता है? कहाँ क्या चाहिए और किस प्रकार अधिक शोभा हो?—इसका कितना विचार करता है? इसमें तो ममता का पोषण है परन्तु धर्मात्मा को ऐसा विचार आता है कि अहो! मेरे भगवान जिसमें विराजमान हों—ऐसा जिनमन्दिर, उसमें क्या-क्या चाहिए और किस रीति से अधिक शोभायमान हो?—इस प्रकार विचार करके होंश में (तन से-मन से-धन से) उसमें वर्तन करता है। वहाँ व्यर्थ की झूठी करकसर अथवा कंजूसई नहीं करता। भाई! ऐसे धर्मकार्य में तू उदारता रखेगा तो तुझे ऐसा लगेगा कि मैंने जीवन में धर्म के लिए कुछ किया है, एकमात्र पाप में ही जिन्दगी नहीं बिगाड़ी परन्तु धर्म की तरफ के कुछ भाव किये हैं—इस प्रकार तुझे धर्म के बहुमान का भाव रहा करेगा। इसका ही लाभ है और ऐसे भाव के साथ में जो पुण्य बँधता है, वह भी लौकिक दया-दान की अपेक्षा उच्च कोटि का होता है। एक मकान बाँधनेवाला कारीगर, जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है, वैसे-वैसे वह भी ऊँचा चढ़ता जाता है; उसी प्रकार धर्मीजीव जैसे-जैसे शुद्धता में बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके पुण्य का रस भी बढ़ता जाता है।

जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा करानेवाले के भाव में क्या है?—उसके भाव में वीतरागता का आदर है और राग का आदर छूट गया है। ऐसे भाव से करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है; और वीतरागभाव के बहुमान द्वारा वह जीव अल्प काल में राग को तोड़कर

मोक्ष प्राप्त करता है परन्तु यह बात लक्ष्य में लिए बिना, कोई ऐसे ही कह दे कि 'तुमने मन्दिर बनवाया, इसलिए आठ भव में तुम्हारा मोक्ष हो जाएगा'—यह बात सिद्धान्त की नहीं है। भाई! श्रावक को ऐसा शुभभाव होता है—यह बात सत्य है परन्तु राग की जितनी हद हो, उतनी रखनी चाहिए। इस शुभराग के फल से उच्च कोटि का पुण्य बँधने का कहा है परन्तु उससे कर्मक्षय होने का भगवान ने नहीं कहा है। कर्म का क्षय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही कहा है।

अरे! सच्चे मार्ग और सच्चे तत्त्व को समझे बिना जीव कहाँ अटक जाता है! शास्त्र में व्यवहार के कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं, परन्तु मूल तत्त्व को और वीतरागभावरूप मार्ग को लक्ष्य में रखकर इसका अर्थ समझना चाहिए। शुभराग से ऊँचा पुण्य बँधता है—ऐसा बतलाने के लिए उसकी महिमा की है, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जाता है।

कितने ही जीव तो, भगवान का जिनमन्दिर होता है, वहाँ दर्शन करने भी नहीं जाते। भाई! जिसे वीतरागता का प्रेम होता है और जिनमन्दिर का योग हो, वहाँ वह भक्ति से प्रतिदिन दर्शन करने जाता है। जिनमन्दिर बनवाने की बात तो दूर रही परन्तु वहाँ दर्शन करने जाने का भी जिसे अवकाश नहीं, उसे धर्म का प्रेम कौन कहे? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमा का भक्ति से दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं।

पौन्नूर ग्राम में एक पुराना मन्दिर है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी जब उस ग्राम में आये, तब वे भी वहाँ दर्शन करने जाते थे। समन्तभद्रस्वामी ने भी भगवान की अद्भुत स्तुति की है। दो हजार वर्ष पूर्व किसी बड़े राजा को जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा करवानी थी, तब कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने शिष्य जयसेन मुनि को उसकी विधि के लिए शास्त्र रचने की आज्ञा दी और जयसेनस्वामी ने मात्र दो दिन में प्रतिष्ठा पाठ की रचना की, इसलिए कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उन जयसेनस्वामी को 'वसुबिन्दु' अर्थात् आठ कर्मों का अभाव करनेवाले—ऐसा विशेषण दिया। उनका रचा प्रतिष्ठा-पाठ 'वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ' कहलाता है, उसके आधार से प्रतिष्ठ की विधि होती है।

बड़े-बड़े धर्मात्माओं को जिनभगवान की प्रतिष्ठा का, उनके दर्शन का ऐसा भाव

आता है और तू कहता है कि मुझे दर्शन करने का अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है तो तुझे धर्म की रुचि नहीं, देव-गुरु का तुझे प्रेम नहीं। पाप के काम में तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता—यह तो तेरा व्यर्थ का बहाना है। जगत् के पापकार्यों में, कालाबाजार आदि के करने में तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवान के समीप जाकर पूजा करने में तुझे शर्म आती है; वाह! बलिहारी है तेरी औंधाई की।

अरे! शर्म तो पापकार्य करने में आनी चाहिए, उसके बदले वहाँ तो तुझे प्रसन्नता होती है और धर्म के कार्य में शर्म आने की बात कहता है, वास्तव में तुझे धर्म का प्रेम ही नहीं है।

एक राजा की कथा आती है कि वह राजदरबार में आ रहा था। रास्ते में किन्हीं मुनिराज के दर्शन हुए, राजा ने भक्ति से उनके चरण में मुकुटबद्ध सिर झुकाया और पश्चात् राजदरबार में गया। दीवान ने मुकुट पर धूल लगी देखी तो वह उसे झाड़ने लगा, तब राजा उसे रोक कर कहते हैं कि दीवानजी! रहने दो; इस रज से तो मेरे मुकुट की शोभा है, यह रज तो मेरे वीतराग गुरु के चरण से पवित्र हुई है।

देखो यह भक्ति! इसमें उसे शर्म नहीं आती कि अरे! मेरे बहुमूल्य मुकुट में धूल लग गयी अथवा अन्य मेरी हँसी उड़ावेंगे। अरे, भक्ति में शर्म कैसी? भगवान के भक्त को दर्शन बिना चैन नहीं।

यहाँ (सोनगढ़ में) पहले जिनमन्दिर नहीं था, तब भक्तों को ऐसा विचार आया कि अरे! अपने को यहाँ भगवान का विरह हुआ है, उनका साक्षात् दर्शन तो है नहीं और उनकी प्रतिमा के भी दर्शन नहीं है—इस प्रकार उन्हें दर्शन की भावना उत्पन्न हुई; अतः संवत् 1997 में यह जिनमन्दिर बना। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! भगवान के दर्शन से किसे प्रसन्नता न हो? जो जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमा की स्थापना करावे, उसके पुण्य की क्या बात?

भरत चक्रवर्ती ने पाँच-पाँच सौ धनुष की ऊँची प्रतिमाएँ स्थापित करावाई थीं, उनकी शोभा की क्या बात?

वर्तमान में भी देखो ! (श्रवणबेलगोला में) भगवान बाहुबली की मूर्ति कैसी है ! अहा, वर्तमान में तो कहीं भी इसके समान अन्य मूर्ति नहीं है । महान मुनि नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा (सान्निध्य में) इसकी प्रतिष्ठा हुई है और इसके सामने की पहाड़ी (चन्द्रगिरि) पर एक जिनालय में उन्होंने गोम्मटसार की रचना की थी । बाहुबली भगवान की यह प्रतिमा गोम्मटेश्वर भी कहलाती है । यह सत्तावन फीट ऊँची है और इसका अचिन्त्य दर्शन है । पुण्य और पवित्रता दोनों की झलक इनकी मुद्रा पर चमकती है और बाहुबली भगवान की अन्य एक अत्यन्त छोटी (चने के दाने बराबर) रत्नप्रतिमा मूलबिद्री में है—ऐसी प्रतिमा कराने का उत्साह धर्मात्माओं को आता है—ऐसा यहाँ बताना है ।

देखो ! यह किसकी बात चलती है ? यह श्रावक के धर्म की बात चलती है । आत्मा, रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । उसकी रुचि करके, राग घटाने का अन्तर्प्रयत्न, वह गृहस्थधर्म का प्रकाश करनेवाला मार्ग है । उसमें दान के वर्णन में जिनप्रतिमा कराने का विशेष वर्णन किया है ।

जिस प्रकार जिसे धन प्रिय है, वह धनवान का गुणगान करता है; उसी प्रकार जिसे वीतरागता प्रिय है, वह भक्तिपूर्वक वीतरागदेव के गुणगान करता है; उनके विरह में उनकी स्थापना प्रतिमा में करके दर्शन-स्तुति करता है । इस प्रकार शुद्धस्वरूप की दृष्टि रखकर अशुभ स्थानों से बचता है—ऐसा श्रावक-भूमिका का धर्म है ।

कोई कहे कि शुद्धता, वह मुनि का धर्म और शुभराग, वह श्रावक का धर्म है; तो ऐसा नहीं है । धर्म तो मुनि को अथवा श्रावक को दोनों को एक ही प्रकार का रागरहित शुद्धपरिणतिरूप ही है परन्तु श्रावक को अभी शुद्धता अल्प है, वहाँ राग के भेद जिनपूजा, दान आदि होते हैं; इसलिए शुद्धता के साथ इन शुभकार्यों को भी गृहस्थ के धर्मरूप वर्णन किया है, अर्थात् इस भूमिका में ऐसे शुभभाव होते हैं ।

देखो ! नग्न-दिगम्बर सन्त, वन में बसनेवाले और स्वरूप की साधना में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि को भी भगवान के प्रति कैसे भाव उल्लसित होते हैं ! वे कहते हैं कि छोटा-सा मन्दिर बनावे और उसमें जौ के दाने जितनी जिनप्रतिमा की

स्थापना करे, उस श्रावक के पुण्य की अपूर्व महिमा है, अर्थात् उसे वीतरागभाव की जो रुचि हुई है, उसके महान् फल की क्या बात!! प्रतिमा चाहे छोटी हो, परन्तु वह वीतरागता का प्रतीक है न! उसकी स्थापना करनेवाले की वीतराग का आदर है—इसका फल महान है।

कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि अरहन्तदेव को बराबर पहचाने तो सम्यग्दर्शन हो जावे। जिसे वीतरागता प्रिय लगी, जिसे सर्वज्ञस्वभाव रुचा; उसे सर्वज्ञ-वीतरागदेव के प्रति परमभक्ति का उल्लास आता है। इन्द्र जैसे भी देवलोक से उतरकर समवसरण में आ-आकर तीर्थकर प्रभु के चरणों की सेवा करते हैं, हजार-हजार आँखों से प्रभु को देखते हैं; तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती। अहो! आपकी वीतरागी शान्त मुद्रा देखा ही करें — ऐसा लगता है।

गृहस्थ की भूमिका में ऐसे भावों से ऊँची जाति का पुण्य बँधता है। उसे राग तो है परन्तु राग की दिशा, संसार की ओर से हटकर धर्म की ओर हो गयी है; इसलिए वीतरागता की भावना खूब घुटती रहती है। अहा! भगवान, स्वरूप में ठहर गये से लगते हों, ज्ञाता-दृष्टापने से जगत् को साक्षीरूप देख रहे हों और उपशमरस की धारा बरस रही हो — ऐसी भाववाही जिनप्रतिमा होती है। ऐसी निर्विकार वीतराग जिनमुद्रा का दर्शन, वह अपने वीतरागस्वभाव के स्मरण और ध्यान का निमित्त है।

धर्मी का ध्येय वीतरागता है। जिस प्रकार चतुर किसान, बीज को चारे के लिए नहीं बोता परन्तु अनाज के लिए बोता है, अनाज के साथ चारा भी बहुत होता है; उसी प्रकार धर्मी का प्रयत्न वीतरागता के लिए है, राग के लिए नहीं; चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक शुद्धता को साधते-साधते बीच में पुण्यरूपी ऊँचा घास भी बहुत पकता है परन्तु इस घास को कोई मनुष्य नहीं खाता, मनुष्य तो अनाज खाते हैं; उसी प्रकार धर्मी जीव, राग को अथवा पुण्य को आदरणीय नहीं मानता है, वीतरागभाव को ही आदरणीय मानता है। देखो, इसमें दोनों बातें इकट्ठी हैं। श्रावक की भूमिका में राग कैसा होता है—इसका स्वरूप इसमें आ जाता है।

ज्ञानी को धर्मसहित जो पुण्य होता है, वह ऊँची जाति का होता है; अज्ञानी का पुण्य बिना सारवाला होता है, उसकी पर्याय में धर्म का दुष्काल है। जिस प्रकार उत्तम अनाज

के साथ जो घास पकता है, वह घास भी पुष्टिकर होता है और दुष्काल में अनाज के बिना अकेला जो घास पकता है, उसमें बहुत पुष्टि नहीं होती; उसी प्रकार जहाँ धर्म का दुष्काल है, वहाँ पुण्य भी हलका होता है और धर्म की भूमिका में पुण्य भी ऊँची जाति का होता है।

तीर्थकरपना, चक्रवर्तीपना, इन्द्रपना आदि का लोकोत्तर पुण्य, धर्म की भूमिका में ही बँधता है। गृहस्थों को जिनमन्दिर, जिनबिम्ब बनवाने से तथा आहारदान आदि से महान् पुण्य बँधता है; इसलिए मुनिराज ने उनका उपदेश दिया है।

अहो! अविकृत स्वरूप के आनन्द में झूलनेवाले सन्त, जो प्राण जावें तो भी झूठ नहीं बोलते और जिन्हें इन्द्राणी भी आकाश से उतर आवें तो भी अशुभवृत्ति नहीं उठती — ऐसे वीतरागी मुनि का यह कथन है। जगत् के पास से उन्हें एक कण भी नहीं चाहिए, मात्र जगत् के जीवों को लोभरूपी पाप के कुँएँ से निकालने और धर्म में लगाने हेतु करुणापूर्वक उपदेश दिया है।

जिसका हृदय पत्थर जैसा हो, उसकी अलग बात है परन्तु फूल की कली जैसा कोमल हृदय हो, उसे तो वीतरागी उपदेश की गुँजार सुनते ही प्रसन्नता हो उठेगी; जिनेन्द्र-भक्तिवन्त तो आनन्दित होगा। जिस प्रकार उल्लू को अथवा घुग्घू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, उसे तो अन्धेरा अच्छा लगता है; उसी प्रकार चैतन्य का प्रकाश करनेवाला यह वीतरागी उपदेश जिसे नहीं रुचता, वह अभी मिथ्यात्व के घोर अन्धकार में पड़ा हुआ है। जिज्ञासु को तो ऐसा उल्लास आता है कि अहो! यह तो मेरे चैतन्य का प्रकाश करनेवाली अपूर्व बात है। तीन लोक के नाथ जिनदेव जिसमें विराजमान होते हैं, उसकी शोभा हेतु धर्मी भक्तों को उल्लास होता है।

वादिराजस्वामी कहते हैं कि प्रभो! आप जिस नगरी में अवतार लेते हैं, वह नगरी सोने की हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदय में आपको स्थापित किया तो यह शरीर बिना रोग का सोने जैसा न होवे—यह कैसे हो सकता है? और आपको आत्मा में विराजमान करते ही आत्मा में से मोहरोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे—यह कैसे बने?

धर्मी श्रावक को, उसी प्रकार धर्म के जिज्ञासु जैन को ऐसा भाव आता है कि अहो! मैं मेरे वीतरागस्वभाव के प्रतिबिम्बरूप इस जिनमुद्रा को प्रतिदिन देखूँ। जिस प्रकार माता

को पुत्र के बिना चैन न पड़ती; उसी प्रकार भगवान के विरह में भगवान के पुत्रों को— भगवान के भक्तों को चैन नहीं पड़ती।

चेलना रानी, श्रेणिक राजा के राज्य में आई परन्तु श्रेणिक तो बौद्धधर्म को मानते थे, इसलिए उसे वहाँ जैनधर्म की छटा नहीं दिखी, इस कारण चेलना को किसी प्रकार चैन नहीं पड़ा। अन्ततः उसने राजा को समझा कर बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाये और श्रेणिक राजा को भी जैनधर्म ग्रहण करवाया।

इसी प्रकार हरिषेण चक्रवर्ती की भी कथा आती है। उसकी माता जिनदेव की विशाल रथयात्रा निकालने की माँग करती रही परन्तु दूसरी रानियों ने उस रथ को रुकवा दिया, इसलिए हरिषेण की माता ने अनशन की प्रतिज्ञा ली कि जब मेरे जिनेन्द्र भगवान का रथ धूमधाम से निकलेगा, तभी मैं आहार लूँगी। आखिर में उसके पुत्र ने चक्रवर्ती होकर धूमधाम से भगवान की रथयात्रा निकाली।

अकलंकस्वामी के समय में भी ऐसी ही बात हुई और उन्होंने बौद्ध गुरु को वाद-विवाद में हराकर भगवान की रथयात्रा निकलवायी और जैनधर्म की बहुत प्रभावना की।

इस प्रकार धर्मी श्रावक भक्तिपूर्वक जिनशासन की प्रभावना करते हैं, जिनमन्दिर बँधवाते हैं, वीतराग जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बँधता है।

चाहे छोटी-सी वीतराग प्रतिमा हो, परन्तु स्थापना में त्रैकालिक वीतरागमार्ग का आदर है। इस मार्ग के आदर से ऊँचा पुण्य बँधता है।

इस प्रकार जिनदेव के भक्त धर्मी श्रावक अत्यन्त बहुमान से जिनमन्दिर तथा जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं - यह बात कही तथा उसका उत्तम फल बताया।

जहाँ जिनमन्दिर होता है, वहाँ सदैव धर्म के नये-नये मंगल उत्सव होते रहते हैं— यह बात अब आगे कहेंगे। ●●●

***** [२३] *****
*
* श्रावक की धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार *
*

*
* धर्मी जीव को घर की शोभा की अपेक्षा जिनमन्दिर की शोभा का *
* अधिक उत्साह होता है, सर्व प्रकार से संसार की ओर का प्रेम कर करके *
* धर्म के प्रेम को वह बढ़ाता है। मात्र किसी कुल में जन्म लेने से श्रावकपना *
* नहीं होता, परन्तु सर्वज्ञ की पहिचान और स्वसन्मुखतापूर्वक श्रावकधर्म का *
* आचरण करने से श्रावकपना होता है। जहाँ धर्म के उत्सव के लिए रोज दान *
* होता है, जहाँ मुनि आदि धर्मात्माओं का आदर होता है, वह गृहस्थाश्रम *
* शोभा पाता है, इसके बिना श्रावकपना शोभा नहीं पाता। *
*

जहाँ जिनमन्दिर हो, वहाँ श्रावक हमेशा भक्ति से नये-नये उत्सव करता है; उसका वर्णन करते हैं।

यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैः तूर्यत्रिकैर्जगरैः।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्यः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

अर्थ : इस संसार में चैत्यालय के होने पर भव्य जीव यात्रा से, कलशाभिषेकों से तथा और सैकड़ों बड़े उत्सवों से और पूजा तथा चाँदनियों से और नैवेद्य से, बलि से तथा ध्वजाओं के आरोपण से, कलशारोपण से और अत्यन्त शब्दों के करनेवाले बाजों से तथा घण्टा चामर दर्पण आदिक से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को बढ़ाकर पुण्य का संचय कर लेते हैं, इसलिए भव्यजीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही करना चाहिए ॥२३॥

यात्राओं अभिषेक तथा पूजन विधान उत्सव द्वारा ।
 नृत्य गीत नैवेद्य तथा घंटा चामर दर्पण द्वारा ॥
 ध्वजा कलश-आरोहण उत्सव से करते शोभा विस्तार ।
 चैत्यालय के माध्यम से भवि करें उपार्जन पुण्य अपार ॥२३ ॥

इस जगत में जहाँ चैत्यालय हो, वहाँ भव्य जीव रथयात्रा निकाले, भगवान का कलशाभिषेक आदि सैकड़ों प्रकार के बड़े-बड़े उत्सव करे, अनेक प्रकार के पूजनादि करे, चाँदनी-चाँदेवा-तोरण चढ़ावे, नैवेद्य तथा अन्य भेंट चढ़ावे, ध्वज, कलश, तूर्यात्रिक अर्थात् गीत नृत्य-साज, जागरण, घण्टा, चँवर तथा दर्पण आदि द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करे;—इस प्रकार निरन्तर पुण्य का उपार्जन करता है ।

देखो ! जहाँ धर्म के प्रेमी श्रावक हों, वहाँ जिनमन्दिर होता है और जहाँ मन्दिर हो, वहाँ प्रतिदिन मंगल-महोत्सव होते रहते हैं । किसी समय मन्दिर की वर्षगाँठ हो, भगवान के कल्याणक का प्रसंग हो, दशलक्षण पर्व हो, अष्टाह्निका पर्व हो—ऐसे अनेक प्रसंगों में धर्मीजीव, भगवान के मन्दिर में पूजा-भक्ति का उत्सव करावे । इस बहाने दानादि में अपना धन खर्च करके शुभभाव करे और राग को घटावे ।

यद्यपि वीतराग भगवान तो कुछ नहीं देते और कुछ नहीं लेते; उन्हें तो पूजा करनेवाले के प्रति अथवा निन्दा करनेवाले के प्रति वीतरागभाव ही वर्तता है परन्तु भक्त को जिनमन्दिर की शोभा आदि का उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता । अपने घर की शोभा बढ़ाने का भाव कैसे आता है ? उसी प्रकार धर्मी को धर्मप्रसंग में जिनमन्दिर की शोभा किस प्रकार बढ़े ?—ऐसा भाव आता है ।

श्रावक अत्यन्त भक्ति से शुद्ध जल द्वारा भगवान का अभिषेक करे, तब उसे ऐसा भाव उल्लसित हो कि मानों साक्षात् अरहन्तदेव का ही स्पर्श हो रहा हो । जिस प्रकार पुत्र के विवाह आदि प्रसंग में उत्सव करता है और मण्डप की तथा घर की शोभा करता है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्साह से धर्मी जीव, धर्म की शोभा और उत्सव करावे । जहाँ मन्दिर हो और जहाँ धर्मी श्रावक हो, वहाँ बारम्बार आनन्द—मंगल के ऐसे प्रसंग बना करते हैं और घर के छोटे बच्चों में भी धर्म के संस्कार पड़ते हैं ।

धर्म के लिए जो अनुकूल न हो अथवा धर्म के लिए जो बाधाकारक लगे—ऐसे देश को, ऐसे संयोग को धर्मीजीव छोड़ दे। जहाँ जिनमन्दिर आदि हो, वहाँ धर्मात्मा रहते हैं और वहाँ नये-नये मंगल-उत्सव हुआ करते हैं। यदि कोई विशेष प्रकार का जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा हो तो वहाँ यात्रा करने के लिए अनेक श्रावक आते हैं। सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा भी श्रावक करता है। इस प्रकार वह मोक्षगामी सन्तों को याद करता है।

किसी समय मन्दिर की वर्षगाँठ हो, किसी समय मन्दिर को दस अथवा पच्चीस अथवा सौ वर्ष पूरे होते हों तो वह उसका उत्सव करे। कोई बड़े सन्त-महात्मा मुनि आदि पधारें, तब उत्सव करे। पुत्र-पुत्री के लग्नोत्सव—जन्मोत्सव आदि के निमित्त भी मन्दिर में पूजनादि से शोभा करावे, रथयात्रा निकलवाये—इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग में गृहस्थ धर्म को याद किया करता है।

कोई नया महान् शास्त्र आवे, तब उसके बहुमान का उत्सव करे। शास्त्र, अर्थात् जिनवाणी; वह भी भगवान की तरह ही पूज्य है। अपने घर को तोरण आदि से कैसे शृंगारित करता है और नये-नये वस्त्र लाता है? उसी प्रकार जिनमन्दिर के द्वार को भाँति-भाँति के तोरण आदि से शृंगारित करे और नये-नये चंदोबा आदि से शोभा बढ़ावे। इस प्रकार श्रावक के राग की दशा बदल गयी है; साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह राग, पुण्यास्त्रव का कारण है और जितनी वीतरागी शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है।

जिनमन्दिर के ऊपर कलश तथा ध्वज चढ़वाने का भी महान् उत्सव होता है। पहले तो शिखर में भी कीमती रत्न लगवाते थे, जो जगमगाते थे। नये-नये वीतरागी चित्रों द्वारा मन्दिर की शोभा करे—इस प्रकार श्रावक सर्व प्रकार से संसार का प्रेम कम करके धर्म का प्रेम बढ़ाता है। जिसे वीतरागमार्ग के प्रति प्रेम उल्लसित हुआ है, उसे श्रावकदशा में ऐसे भाव आते हैं।

इस धूल के ढेर जैसे शरीर का फोटो किस प्रकार निकलवाता है, कितने प्रेम से देखता है और शृंगार करता है? तो वीतरागी जिनबिम्ब, वीतराग भगवान का फोटो है। जिसे परमात्मदशा प्रिय हो, उसे इनके प्रति प्रेम और उल्लास आता है।

केवल कुल विशेष में जन्म लेने से श्रावकपना नहीं हो जाता परन्तु सर्वज्ञ की पहचानपूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करने से श्रावकपना होता है। समयसार में जैसा एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा बतलाया है, वैसे शुद्ध आत्मा की पहचानपूर्वक सम्यग्दर्शन हो तो श्रावकपना शोभा देता है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना शोभा नहीं देता।

निर्विकल्प अनुभूतिसहित सम्यग्दर्शन हो, उसके बाद आनन्द की अनुभूति और स्वरूपस्थिरता बढ़ जाने से अप्रत्याख्यान कषायों का भी अभाव होता है—ऐसी आँशिक अरागीदशा हो, उसका नाम श्रावकपना है और उस भूमिका में जो राग बाकी है, उसमें जिनेन्द्रदर्शन-पूजन, गुरुसेवा, शास्त्र स्वाध्याय, दान, अणुव्रत आदि होते हैं; इसलिए वह भी व्यवहार से श्रावक का धर्म है—ऐसे श्रावकधर्म का यह प्रकाशन है।

वर्तमान में तीर्थकर भगवान साक्षात् नहीं हैं परन्तु उनकी वाणी तो है, इस वाणी से भी बहुत उपकार होता है; इसलिए उस वाणी की, अर्थात् शास्त्र की भी प्रतिष्ठा की जाती है और भगवान की मूर्ति के समक्ष देखने से ऐसा लगता है कि मानो साक्षात् भगवान मेरे सामने ही विराज रहे हैं। इस प्रकार अपने ज्ञान में भगवान को प्रत्यक्ष करके, साधक को भक्तिभाव उल्लसित होता है। प्रतिदिन भगवान का अभिषेक करते समय प्रभु का स्पर्श होने पर श्रावक महान हर्ष मानता है कि अहो! आज मैंने भगवान के चरण स्पर्श किये, आज भगवान की चरणसेवा का परम सौभाग्य मिला।

इस प्रकार धर्मात्मा के हृदय में भगवान के प्रति प्रेम उमड़ता है। मन्दिर में भगवान के पास से घर जाना पड़ता है, वहाँ उसे अच्छा नहीं लगता; उसे लगता है कि भगवान के पास ही बैठा रहूँ। भगवान की पूजा आदि के बर्तन भी उत्तम होवें; घर में तो अच्छे बर्तन रखे और पूजन करने हेतु मामूली बर्तन ले जावे—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार श्रावक को तो चारों ओर से सभी पहलुओं का विवेक होता है। साधर्मियों पर भी उसे परम वात्सल्यभाव होता है।

जिसे वीतरागस्वभाव का भान हुआ है और मुनिदशा की भावना वर्तती है—ऐसे जीव का यह वर्णन है। उसके पहले जिज्ञासु भूमिका में भी यह बात यथायोग्य समझ लेना चाहिए। धर्म के उत्सव में जो भक्तिपूर्वक भाग नहीं लेता, जिसके घर में दान नहीं होता;

उसे शास्त्रकार कहते हैं कि भाई ! तेरा गृहस्थाश्रम शोभा नहीं पाता । जिस गृहस्थाश्रम में रोज-रोज धर्म के उत्सव हेतु दान होता है, जहाँ धर्मात्मा का आदर होता है; वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है और वह श्रावक प्रशंसनीय है ।

अहा ! शुद्धात्मा को दृष्टि में लेते ही जिसकी दृष्टि में से सभी राग छूट गया है, उसके परिणाम में राग की कितनी मन्दता होती है ? और यह मन्दराग भी सर्वथा छूटकर वीतरागता हो, तब केवलज्ञान और मुक्ति होती है । जो ऐसे मोक्ष का साधक हुआ है, उसे राग का आदर कैसे होवे ? अपने वीतरागस्वभाव का जिसे भान है, वह सामने वीतरागबिम्ब को देखकर भी, साक्षात् जिनेन्द्र की तरह ही भक्ति करता है क्योंकि उसने अपने ज्ञान में तो साक्षात् रूप में भगवान देखे हैं न !

श्रावक को स्वभाव के आनन्द का अनुभव हुआ है । वह स्वभाव के आनन्दसागर में एकाग्र होकर बारम्बार उसका स्वाद चखता है; उपयोग को अन्तर में जोड़कर शान्तरस में बारम्बार स्थिर होता है परन्तु वहाँ विशेष उपयोग नहीं ठहरता, इसलिए वह अशुभ प्रसङ्गों को छोड़कर शुभ प्रसङ्ग में ही वर्तता है, उसका यह वर्णन है ।

ऐसी भूमिकावाला आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग में ही जावे — ऐसा नियम है क्योंकि श्रावक को सीधी मोक्ष—प्राप्ति नहीं होती, सर्व सङ्गत्यागी मुनिपने के बिना सीधी मोक्ष—प्राप्ति किसी को नहीं होती । साथ ही पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक, स्वर्ग सिवाय अन्य गति में भी नहीं जाता; अतः श्रावक, शुभभाव के फल में स्वर्ग में ही जाता है । तत्पश्चात् क्या होता है, वह आगामी गाथा में कहेंगे । ●●●

***** [२४] *****
*
* श्रावक को पुण्य फल प्राप्ति और मोक्ष की साधना *
*

*
* श्रावक को सिद्ध भगवान जैसे आत्मिक आनन्द का अंश होता है। *
* वह उत्तम स्वर्ग में जाता है परन्तु उसके वैभव में मूर्च्छित नहीं होता, वहाँ भी *
* आराधकभाव बनाये रखता है, और बाद में मनुष्य होकर वैराग्य प्राप्त कर *
* मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में *
* जाता है।—ऐसा श्रावकधर्म का फल है। *
*

धर्मी श्रावक सर्वज्ञदेव को पहिचानकर देवपूजा आदि षट्कार्य प्रतिदिन करता है, जिनमन्दिर में अनेक उत्सव करता है, और उससे पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाता है; वहाँ आराधना चालू रखकर बाद में उत्तम मनुष्य होकर मुनिपना लेकर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है; ऐसी बात अब कहते हैं—

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम्।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभात्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४॥

अर्थ : जो षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रत के धारण करनेवाले श्रावक हैं, वे नियम से स्वर्ग को जाते हैं तथा वहाँ पर महानऋद्धि के धारी देव होकर चिरकाल तक निवास करते हैं और पीछे वे इस मृत्युलोक में आकर शुभकर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर तथा वैराग्य को धारण कर और समस्त बाह्य तथा

अभ्यन्तर परिग्रह का नाशकर सीधे सिद्धालय को पधारते हैं तथा वहाँ पर अनन्त सुख के भोगनेवाले होते हैं। इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण हैं तो भव्यों को चाहिए कि वे षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्न से धारण करै ॥२४॥

यदि वे अणुव्रत धारी हों तो निश्चित सुर पद प्राप्त करें।

वहाँ महान ऋद्धि के धारक हो चिरकाल विलास करें ॥

और पुनः शुभ कर्म योग से नरगति उत्तम कुल पाते।

सकल परिग्रह त्याग विरागी होकर मुक्ति प्राप्त करें ॥२४॥

वह श्रावक चाहे मुनिव्रत न ले सके और अणुव्रतधारी ही हो तो भी, आयु पूर्ण होने पर नियम से स्वर्ग में जाता है, वहाँ अणिमा आदि महान ऋद्धिसहित बहुत कालपर्यन्त अमरपद में (देवपद में) रहता है, उसके बाद प्रकृष्ट शुभ द्वारा महान उत्तम कुल में मनुष्यपना प्राप्त कर, वैरागी होकर, सकल परिग्रह का त्याग कर, मुनि होकर शुद्धोपयोगरूपी साधन द्वारा मोक्ष पहुँचता है।—इस प्रकार श्रावक परम्परा से मोक्ष को साधता है—ऐसा जानना।

मुनि तो मोक्ष के साक्षात् साधक हैं और श्रावक परम्परा से मोक्ष का साधक है। श्रावक को केवल व्यवहार साधन है, ऐसा नहीं, किन्तु उसे भी अंशरूप निश्चयसाधन होता है; और वह निश्चय के बल से ही (अर्थात् शुद्धि के बल से ही) आगे बढ़कर राग तोड़कर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है। श्रावक को अभी शुद्धता कम है और राग शेष है; इसलिए वह स्वर्ग में महान ऋषि सहित देव होता है। श्रावक मरकर कभी भी विदेहक्षेत्र में जन्म नहीं लेता। मनुष्यगति से मरकर विदेहक्षेत्र में उत्पन्न होनेवाला तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पहले बाँधी हुई आयु के कारण जो समकित्ती मनुष्य पुनः सीधा मनुष्य ही बने, वह तो असंख्य वर्ष की आयुवाली भोगभूमि में ही जन्म लेवे, विदेह आदि में जन्म नहीं लेता, और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो कभी मनुष्यपर्याय में से मनुष्य होता ही नहीं, देवगति में ही जाता है, ऐसा नियम है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य कभी मनुष्य, तिर्यच अथवा नरक की आयु नहीं बाँधता; मनुष्यगति में ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टि की भूमिका में ही बाँधती हैं; आयु बाँधने पर चाहे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाए—यह बात अलग है, परन्तु इन तीन में से कोई आयु बाँधते समय तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है। सम्यग्दृष्टि देव हो या नारकी

हो, वह मनुष्य की आयु बाँध सके; परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि उसे भव होवे और आयु बाँधे तो देवगति की आयु बाँधे, अन्य न बाँधे—ऐसा नियम है।

गृहस्थपने में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थान तक की भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती। वह अधिक से अधिक एक भवावतारी हो सकता है, परन्तु गृहस्थावस्था में मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-आभ्यन्तर दिगम्बर मुनिदशा हुए बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पा सकता। श्रावक-धर्मात्मा आराधकभाव के साथ उत्तम पुण्य के कारण यहाँ से वैमानिक देवलोक में जाता है, वहाँ अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं, परन्तु धर्मी उसमें मुच्छित (मोहित) नहीं होता, वह वहाँ भी आराधना चालू रखता है। उसने आत्मा का सुख चखा है; इसलिए बाह्य वैभव में मच्छित नहीं होता। स्वर्ग में जन्म होने पर वहाँ सबसे पहले उसे ऐसा भाव होता है कि—अहो! यह तो मैंने पूर्वभव में धर्म का सेवन किया था, उसका फल है। मेरी आराधना अधूरी रह गयी और राग शेष रहा; इस कारण यहाँ अवतार हुआ, पहले जिनेन्द्र भगवान की पूजन-भक्ति की थी, उसका वह फल है; इसलिए चलो, सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान का पूजन करना चाहिए। ऐसा कहकर स्वर्ग में जो शाश्वत जिनप्रतिमा हैं, उनकी पूजा करता है। इस प्रकार वह स्वर्ग में भी आराधकभाव चालू रखकर वहाँ असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्यकुल में जन्म लेता है और योग्य काल में वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में जाता है।

देखो! इस श्रावकदशा का फल! श्रावक को सिद्ध भगवान जैसा आत्मिक आनन्द का अंश होता है और वह एकभवावतारी भी होता है। यह उत्कृष्ट बात कही है। किसी जीव को दो-तीन अथवा अधिक से अधिक आठ भव भी (आराधकभाव सहित के) होते हैं। परन्तु वह तो मोक्षपुरी में जाते-जाते बीच में विश्राम लेने जितने हैं।

देखो, यह श्रावकधर्म के फल में मोक्षप्राप्ति कहा, अर्थात् यहाँ श्रावकधर्म में एकमात्र पुण्य की बात नहीं, परन्तु सम्यक्त्वसहित की शुद्धता पूर्वक की यह बात है। आत्मा के ज्ञान बिना सच्चा श्रावकपना नहीं होता। श्रावकपना क्या है, इसका भी बहुतों को ज्ञान नहीं। जैनकुल में जन्म लेने से ही श्रावकपना मान ले, परन्तु ऐसा श्रावकपना नहीं है। श्रावकपना तो आत्मा की दशा में है।

अपने तो गृहस्थ हैं, इसलिए स्त्री-कुटुम्ब की सँभाल करना अपना कर्तव्य है— ऐसा अज्ञानी मानता है।—परन्तु भाई! तेरा सच्चा कर्तव्य तो अपनी आत्मा को सुधारने का है, जीवन में यही सच्चा कर्तव्य है, अन्य का कर्तव्य तेरे पर नहीं। अरे, पहले ऐसी श्रद्धा तो कर! श्रद्धा के पश्चात् अल्प रागादि होंगे परन्तु धर्मी उसे कर्तव्य नहीं स्वीकारता; इसलिए वे लंगड़े हो जावेंगे, अत्यन्त मन्द हो जावेंगे। जैसे रंग-बिरंगे कपड़े से लिपटी सोने की लकड़ी वह कोई वस्त्ररूप नहीं होती; उसी प्रकार चित्र-विचित्र परमाणुओं के समूह से लिपटी यह चैतन्य-लकड़ी कोई शरीररूप हुई नहीं, भिन्न ही है। आत्मा को जहाँ शरीर ही नहीं वहाँ पुत्र, मकान आदि कैसे?—यह तो स्वरूप से बाहर-दूर पड़े हैं। ऐसा भेदज्ञान करना सच्चा विवेक और चतुराई है। बाहर की चतुराई में तो कोई हित नहीं है। चतुर उसे कहते हैं, जो चैतन्य को चेतने जाने; विवेकी उसे कहते हैं कि जो स्व-पर का विवेक करे अर्थात् भिन्नता जाने; जीव उसे कहते हैं, जो ज्ञान-आनन्दमय जीवन जीवे; चतुर उसे कहते हैं, जो आत्मा के जानने में अपनी चतुराई खर्च करे। आत्मा के जानने में जो मूढ़ रहे, उसे चतुर कौन कहे?—उसे विवेकी कौन कहे! और आत्मज्ञान बिना जीने को जीवन कौन कहे?

भाई! मूलभूत वस्तु तो आत्मा की पहिचान है। तीर्थयात्रा में भी मुख्य हेतु यह है कि तीर्थ में आराधक जीवों का विशेष स्मरण होता है तथा कोई सन्त-धर्मात्मा का सत्संग मिले।

अहिंसा आदि अणुव्रत का पालन, जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन, तीर्थयात्रा आदि से श्रावक को उत्तम पुण्य बँधता है और वह स्वर्ग में जाता है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं है कि मैं पुण्य करूँ और स्वर्ग में जाऊँ; परन्तु जैसे किसी को चौबीस गाँव जाना हो और सोलह गाँव चलकर बीच में थोड़े समय विश्राम के लिए रुक जावे, वह कोई वहाँ रुकने के लिए नहीं, उसका ध्येय तो चौबीस गाँव जाने का है; उसी प्रकार धर्मी को सिद्धपद में जाते-जाते, राग छूटते-छूटते कुछ राग शेष रह गया है, इसलिए बीच में स्वर्ग का भव होता है, परन्तु इसका ध्येय कोई वहाँ रुकने का नहीं, उसका ध्येय तो परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करना ही है। मनुष्यभव में हो अथवा स्वर्ग में हो, परन्तु वह परमात्मपद की प्राप्ति की

भावना से ही जीवन बिताता है। देखो, श्रीमद् राजचन्द्रजी भी गृहस्थपना में रहकर मुनिदशा की कैसी भावना भाते थे? ('अपूर्व अवसर' काव्य में मुनिपद से लेकर सिद्धदशा तक के परमपद की भावना भायी है।) आंशिक शुद्ध परिणति सहित धर्मात्मा का जीवन भी अलौकिक होता है।

पुण्य और पाप, अथवा शुभ या अशुभराग विकृति है; उसके अभाव से आनन्ददशा प्रगट होती है, वह स्वाभाविक मुक्तदशा है। श्रावक साधक को भी ऐसी आनन्ददशा का नमूना प्रगट हो गया है।—ऐसी दशा को पहचानकर उसकी भावना भाकर जिस प्रकार बने, उस प्रकार स्वरूप में रमणता बढ़ने और राग को घटाने का प्रयत्न करना, जिससे अल्पकाल में पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होने का प्रसंग आवे।

भाई! सम्पूर्ण राग न छोटे और तू गृहस्थदशा में हो, तब तेरी लक्ष्मी को धर्मप्रसंग में खर्च करके सफल कर। जैसे चन्द्रकान्तमणि की सफलता कब?—कि चन्द्रकिरण के स्पर्श से उसमें से अमृत झरे तब; उसी प्रकार लक्ष्मी की शोभा कब? कि सत्पात्र के योग से वह दान में खर्च होवे तब। श्रावक-धर्मी जीव निश्चय से तो अन्तर में स्वयं अपने को वीतरागभाव का दान करता है, और शुभराग द्वारा मुनियों के प्रति, साधर्मियों के प्रति भक्ति से दानादि देता है, जिनेन्द्रदेव की पूजनादि करता है—ऐसा उसका व्यवहार है। इस प्रकार चौथी-पाँचवीं भूमिका में धर्मी को ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है।

कोई कहे कि चौथी भूमिका में जरा भी निश्चयधर्म नहीं होता—तो वह बात असत्य है; निश्चय बिना मोक्षमार्ग कैसा? और वहाँ निश्चयधर्म के साथ पूजा-दान-अणुव्रत आदि जो व्यवहार है, उसे भी जो न स्वीकारे तो वह भी भूल है। जिस भूमिका में जिस प्रकार का निश्चय-व्यवहार होता है, उसे बराबर स्वीकार करना चाहिए। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग माने तो ही व्यवहार को स्वीकार किया कहा जाए—ऐसा श्रद्धान ठीक नहीं है। बहुत से ऐसा कहते हैं कि तुम व्यवहार के अवलम्बन से मोक्ष होना नहीं मानते, इसलिए तुम व्यवहार को ही नहीं मानते—परन्तु यह बात बराबर नहीं है। जगत में तो स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीव-अजीव सब तत्त्व हैं, उनके आश्रय से लाभ माने तो ही उन्हें स्वीकार किया कहा जावे, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है; इसी प्रकार व्यवहार को भी समझना।

मुनिधर्म और श्रावकधर्म ऐसे दोनों प्रकार के धर्मों का भगवान ने उपदेश दिया है। इन दोनों धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है। वहाँ स्वोन्मुखता के बल द्वारा जितना राग दूर होकर शुद्धता प्रगट हुई, उतना ही निश्चयधर्म है और महाव्रत-अणुव्रत अथवा दान-पूजा आदि सम्बन्धी जितना शुभराग रहा, उतना उस भूमिका का असद्भूतव्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहारधर्म है। धर्मी जीव स्वर्ग में जाता है, वहाँ भी जिनेन्द्र-पूजन करता है, भगवान के समवसरण में जाता है, नन्दीश्वरद्वीप जाता है, भगवान के कल्याणक प्रसंगों को मनाने जाता है—ऐसे अनेक प्रकार के शुभकार्य करता है। देवलोक में धर्मी की आयु इतनी होती है कि देव के एक भव में तो असंख्य तीर्थकरों के कल्याणक मनाये जाते हैं। इसलिए देवों को 'अमर' कहा जाता है।

देखो तो, जीव के परिणाम की शक्ति कितनी है। शुद्ध परिणाम करे तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करे; दो घड़ी के शुभ परिणाम द्वारा असंख्य वर्ष का पुण्य बँधे; और अज्ञान द्वारा तीव्र पाप करे तो दो घड़ी में असंख्य वर्ष तक नरक के दुःख को प्राप्त करे!—उदाहरणस्वरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु कितनी? कि सात सौ (७००) वर्ष; इन सात सौ वर्षों की संख्यात सेकेण्ड होती हैं। इतने काल में उसने नरक की तैंतीस सागरों की अर्थात् असंख्यात अरब वर्ष की आयुष बाँधी, अर्थात् एक-एक सेकेण्ड के पाप के फल में अरब वर्ष के नरक का दुःख प्राप्त किया। पाप करते समय जीव को विचार नहीं रहता परन्तु इस नरक के दुःख की बात सुने तो घबराहट हो जाए। यह दुःख जो भोगता है—उसकी पीड़ा की तो क्या बात—परन्तु इसका वर्णन सुनते ही अज्ञानी को भय पैदा हो जाए ऐसा है। इसलिए ऐसा अवसर प्राप्त करके जीव को चेतना चाहिए। जो चेतकर आत्मा की आराधना करे तो उसका फल महान है।

जिस प्रकार पाप के एक सेकेण्ड के फल में असंख्य वर्ष का नरक दुःख कहा; उसी प्रकार साधकदशा के एक-एक समय की आराधना के फल में अनन्त काल का अनन्तगुना मोक्षसुख है। किसी जीव को साधकदशा का कुल काल असंख्य समय का ही होता है, संख्यात समय का नहीं होता, अथवा अनन्त समय का नहीं होता; और मोक्ष का काल तो सादि-अनन्त है, अर्थात् एक-एक समय के साधकभाव के फल में अनन्त

काल का मोक्षसुख आया।—वाह, कैसा लाभ का व्यापार! भाई! तेरे आत्मा के शुद्ध परिणाम की शक्ति कितनी है—वह तो देख। ऐसे शुद्ध परिणाम से आत्मा जागृत हो तो क्षणमात्र में कर्मों को तोड़फोड़ कर मोक्ष को प्राप्त कर ले। कोई जीव अन्तर्मुहूर्त ही मुनिपना पाले, और उस अन्तर्मुहूर्त में शुभ परिणाम से ऐसा पुण्य बाँधे कि नववें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थितिवाला देव होता है। देखो, इस जीव के शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध परिणाम की शक्ति और उसका फल! उसमें शुभ-अशुभ से स्वर्ग-नरक के भव तो अनन्त बार जीव ने किये, परन्तु शुद्धता प्रगट करके मोक्ष को साधे उसकी बलिहारी है।

- * कोई जीव देव में से सीधा देव नहीं होता।
- * कोई जीव देव में से सीधा नारकी नहीं होता।
- * कोई जीव नारकी में से सीधा नारकी नहीं होता।
- * कोई जीव नारकी में से सीधा देव नहीं होता।
- * देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यच में उपजता है।
- * नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यच में उपजता है।
- * मनुष्य मरकर चारों में से कोई भी गति में उपजता है।
- * तिर्यच मरकर चारों में से कोई भी गति में उपजता है।

यह सामान्य बात की, अब सम्यग्दृष्टि की बात:—

- * देव में से सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य में ही अवतरित होता है।
- * नरक में से सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य में ही आता है।
- * मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में जाता है, परन्तु यदि मिथ्यात्वदशा में आयु बाँध गई हो तो नरक अथवा तिर्यच अथवा मनुष्य में भी जाता है। तिर्यच सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में ही जाता है,

और पंचमगुण स्थानवर्ती श्रावक (तिर्यच हो या मनुष्य)

- * वह तो नियम से स्वर्ग में ही जाता है, अन्य किसी गति का आयुष्य उसे नहीं होता।

इस प्रकार धर्मी श्रावक स्वर्ग में जाता है और वहाँ से मनुष्य होकर चौदह प्रकार का अन्तरंग और दस प्रकार का बाह्य-सर्व परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर शुद्धता की श्रेणी मांडकर, सर्वज्ञ होकर सिद्धलोक को जाता है, वहाँ सदाकाल अनन्त आत्मिक-आनन्द का भोग करता है। अहा, सिद्धों के आनन्द का क्या कहना।

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित अणुव्रतरूप श्रावकधर्म, वह श्रावक को परम्परा से मोक्ष का कारण है; इसलिए श्रावक उस धर्म को अंगीकार करके उसका पालन करे—ऐसा उपदेश है। ●●●

धर्म का मूल

अरे जीव ! तू सर्वज्ञ की और ज्ञान की प्रतीति बिना धर्म क्या करेगा ? राग में स्थित रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती; राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर, सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्षपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके उसके वचनानुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के जो वचन हैं, वे हृदय में सर्वज्ञ अनुसार हैं, क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराज रहे हैं। जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हो अर्थात् सर्वज्ञ को जो न मानता हो, उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते। इस प्रकार सर्वज्ञ की पहिचान धर्म का मूल है।

***** [२५] *****

*
* मोक्षमार्ग में निश्चयसहित व्यवहारधर्म मान्य है *
*

*
* भाई! उत्तम सुख का भण्डार तो मोक्ष में है, इसलिए मोक्षपुरुषार्थ ही *
* सब पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। साधक को मोक्षपुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि *
* शुभरागरूप जो धर्म पुरुषार्थ है, वह व्यवहार से मोक्ष का साधन है, इसलिए *
* श्रावक की भूमिका में वह भी ग्रहण करने योग्य है। परन्तु मोक्ष के पुरुषार्थ *
* बिना मात्र पुण्य (मात्र व्यवहार) की शोभा नहीं, इसका फल तो संसार है। *
*

श्रावक पुण्यफल को प्राप्त करके मोक्ष पाता है, ऐसा बतलाया। अब कहते हैं कि शुभराग होते हुए भी धर्मी को मोक्षपुरुषार्थ ही मुख्य है और वह उपादेय है; और उसके साथ का अणुव्रतादिरूप जो व्यवहारधर्म है, वह भी मान्य है।

पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥२५ ॥

अर्थ : चारों पुरुषार्थों में मनुष्य के लिए अविनाशी तथा उत्तम सुख का भण्डार केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्ष से अतिरिक्त अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ विपरीत धर्म के भजनेवाले हैं; इसलिए वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य है तथा धर्म नामक पुरुषार्थ, यदि मोक्ष का कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोगविलासों का कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य हैं तथा ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानीजन पाप ही कहते हैं ॥२५ ॥

चारों पुरुषार्थों में अविनाशी सुखमय है शिव पुरुषार्थ ।
 शेष तीन विपरीत स्वभावी अतः मुमुक्षु जानें व्यर्थ ॥
 अतः धर्म यदि मोक्ष हेतु हो तो ही उपादेय मानें ।
 यदि भोगों के लिए धर्म हो ज्ञानी उसे पाप जानें ॥२५ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही निश्चल-अविनाशी और सत्य सुखरूप है; शेष तीन तो विपरीत स्वभाववाले हैं अर्थात् अस्थिर और दुःखरूप हैं; अतः मुमुक्षु के लिए वे हेय हैं और केवल मोक्ष ही उपादेय है । तथा मोक्ष के साधनरूप वर्तता हो, वह धर्म भी हमें मान्य है—सम्मत है, अर्थात् मोक्षमार्ग को साधते-साधते उसके साथ महाव्रत अथवा अणुव्रत के जो शुभभाव होते हैं, वे तो सम्मत हैं, क्योंकि वे भी व्यवहार से मोक्ष के साधन हैं, परन्तु जो मात्र भोगादि के निमित्त हैं, उन्हें तो ज्ञानी पाप कहते हैं ।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, सच्चा सुख तो एक मोक्षपद में ही है; अतः मुमुक्षुओं को उसका ही पुरुषार्थ करना चाहिए । इसके सिवाय अन्य भाव तो विपरीत होने से हेय हैं । देखो, इसे विपरीत और हेय कहा, उसमें शुभराग भी आ गया । इस प्रकार उसे विपरीत और हेयरूप में स्वीकार करके, पश्चात् यदि वह मोक्षमार्गसहित हो तो उसे मान्य किया है, अर्थात् व्यवहार से उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है । परन्तु यदि साथ में निश्चय मोक्षसाधन (सम्यग्दर्शनादि) न होवे तो मोक्षमार्ग बिना ऐसे अकेले शुभराग को मान्य नहीं करते अर्थात् उसे व्यवहार मोक्षसाधन भी नहीं कह सकते । इसके सिवाय जो काम और अर्थ सम्बन्धी पुरुषार्थ है, वह तो पाप ही है; अतः सर्वथा हेय है ।

भाई! उत्तम सुख का भण्डार तो मोक्ष है; अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थ में श्रेष्ठ है । पुण्य का पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा अल्प है; और संसार के विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं, वे तो एकदम पाप हैं; अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं । अब साधक को मोक्ष पुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है, वह असद्भूतव्यवहार से मोक्ष का साधन है । अतः श्रावक की भूमिका में वह भी व्यवहारनय के विषय में ग्रहण करने योग्य है । मोक्ष का पुरुषार्थ तो सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु उसके अभाव में (अर्थात् निचली साधकदशा में) व्रत-महाव्रतादिरूप धर्म पुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिए । अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है, तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते; पाप की अपेक्षा तो पुण्य भला ही है,

परन्तु कहते हैं कि भाई ! मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जिसे मोक्षमार्ग का लक्ष्य नहीं, वह तो पुण्य के फल में मिले हुए भोगों में आसक्त होकर पुनः पाप में चला जावेगा। अतः बुधजन-ज्ञानी-विद्वान् ऐसे पुण्य को परमार्थ से तो पाप कहते हैं। (देखो, योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा ७१-७२, समयसार, गाथा १६३, पश्चात् श्री जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में परिशिष्ट पुण्य-पाप अधिकार।)

मोक्ष में ही सच्चा सुख है, ऐसा जो समझे, वह राग में या पुण्य फल में सुख कैसे माने?—नहीं माने। जिसकी दृष्टि अकेले राग में है और उसके फल में जिसे सुख लगता है, उसे तो शुभभाव के साथ भोग की अभिलाषा पड़ी है; अतः इस शुभ को मोक्षमार्ग में मान्य नहीं करते, मोक्ष के साधन का व्यवहार उसे लागू नहीं पड़ता है। धर्मी को मोक्षमार्ग साधते-साधते बीच में अभिलाषारहित और श्रद्धा में हेयबुद्धिसहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्ष के साधन का व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु शुरु से ही जो राग को श्रद्धा में इष्ट मानकर अपनाता है, वह राग से दूर कैसे होवेगा? और रागरहित मोक्षमार्ग में कहाँ से आवेगा। ऐसे जीव के शुभ को तो 'भोग हेतु धर्म' समयसार में कहा है, उसे 'मोक्ष हेतु धर्म' नहीं कहते। मोक्ष के हेतुभूत सच्चे धर्म की अज्ञानी को पहचान भी नहीं है, रागरहित ज्ञान क्या है, उसे वह नहीं जानता, शुद्ध ज्ञान के अनुभव का उसे अभाव है; इसलिए मोक्षमार्ग का उसे अभाव है। धर्मी को शुद्ध ज्ञान के अनुभवसहित जो शुभराग शेष रहा, उसे व्यवहार से धर्म अथवा मोक्ष का साधन कहने में आता है।

नीचे की साधक भूमिका में ऐसा व्यवहार है अवश्य; उसे जैसा है, वैसा मानना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि इसे ही उपादेय मानकर सन्तुष्ट हो जाना। वास्तव में उपादेय तो मोक्षार्थी को निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही है, उसके साथ उस-उस भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसे व्यवहार में आदरणीय कहा जाता है। तीर्थकरदेव का आदर करना, दर्शन-पूजन करना, मुनिवरों की भक्ति, आहारदान, स्वाध्याय, अहिंसादि व्रतों का पालन—यह सब व्यवहार है, वह सत्य है, मान्य है, आदरणीय है, परन्तु निश्चयदृष्टि में शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग है—ऐसी श्रद्धा प्रारम्भ से ही होनी चाहिए।

व्यवहार को एकान्त हेय कहकर कोई जीव देवदर्शन, पूजन-भक्ति, मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान, स्वाध्याय, व्रतादि को छोड़ दे और अशुभ को सेवे तो वह स्वच्छन्दी और पापी है; शुद्धात्मा के अनुभव में लीनता होते ही यह सब व्यवहार छूट जाते हैं, परन्तु उसके पूर्व तो भूमिका के अनुसार व्यवहार के परिणाम होते हैं। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और साथ में भूमिका-अनुसार व्यवहार—यह दोनों साधक को साथ में होते हैं। मोक्षमार्ग में ऐसा निश्चयव्यवहार होता है। कोई एकान्त ग्रहण करे अर्थात् नीचे की भूमिका में भी व्यवहार को स्वीकार न करे अथवा निश्चय बिना उसे ही सर्वस्व मान ले तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, एकान्तवादी हैं और उन्हें निश्चय की अथवा व्यवहार की खबर नहीं है।

नय और निक्षेप सम्यग्ज्ञान में होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ही वे सच्चे होते हैं। स्वभावदृष्टि हुई, उस समय सम्यक्भावश्रुत हुआ और उस समय प्रमाण और नय सच्चे हुए; बाद में निश्चय क्या और व्यवहार क्या—ऐसी उसको खबर पड़ती है। निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्मी को ही होता है; अज्ञानी को जो एकान्त व्यवहार है, वह सच्चा मार्ग नहीं अथवा वह सच्चा व्यवहार नहीं है। धर्मी जीव शुद्धता को साधते हुए और बीच में भूमिकानुसार व्रतादि व्यवहार का पालन करते हुए अन्त में अनन्त सुख के भण्डाररूप मोक्ष को साधते हैं। मोक्षमार्ग मुमुक्षु का परम कर्तव्य है, अर्थात् वीतरागता कर्तव्य है; राग कर्तव्य नहीं। वीतरागता न हो, वहाँ तक क्रमशः जितना राग घटे, उतना घटाना प्रयोजनवान है। पहले वीतरागी सम्यग्दृष्टि करे, पश्चात् ही धर्म में चरण पड़ते हैं। कलश टीका में पण्डित श्री राजमलजी कहते हैं—‘मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता।’ देखो, ३०० वर्ष पहले पण्डित बनारसीदासजी ने श्री राजमलजी को ‘समयसार नाटक के मरमी’ कहा है।

श्रावकधर्म के मूल में भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्वसहित राग घटाने का जो उपदेश है, वह हितकारी उपदेश है। भाई! किसी भी प्रकार जिनमार्ग को पाकर तुम स्वद्रव्य के आश्रय के बल द्वारा राग घटा; उसमें तेरा हित है; दान आदि का उपदेश भी उसी हेतु दिया गया है। कोई कहे कि बहुत पैसा मिले तो उसमें से थोड़ा दान में लगाऊँ। दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ—इसमें तो उल्टी भावना हुई; लोभ का पोषण हुआ।

पहले घर को आग लगाकर पीछे कुआँ खोदकर उसके पानी से आग बुझाना—इस प्रकार की यह मूर्खता है। वर्तमान में पाप बाँधकर पीछे दानादि करने को कहता है, इसकी अपेक्षा वर्तमान में ही तू तृष्णा घटा ले न, भाई। एक बार आत्मा को जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा राग के फल कुछ नहीं चाहिए, आत्मा की शुद्धता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिए।—ऐसी रुचि की दिशा पलटने से तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रगट हो जावेगी।

धर्मी को जहाँ आत्मा की अपूर्व दशा प्रगट हुई, वहाँ उसे देह में भी एक प्रकार की अपूर्वता आ गयी, क्योंकि सम्यक्त्व आदि में निमित्तभूत हो, ऐसी देह पूर्व में कभी नहीं मिली थी; अथवा सम्यक्त्वसहित का पुण्य जिसमें निमित्त हो, ऐसी देह पूर्व में मिथ्यात्वदशा में कभी नहीं मिली थी। वाह, धर्मी का आत्मा अपूर्व, धर्मी का पुण्य भी अपूर्व और धर्मी का देह भी अपूर्व! धर्मी कहता है कि यह देह अन्तिम है अर्थात् फिर से ऐसा (विराधकपना) देह मिलने का नहीं; कदाचित् कुछ भव होंगे और देह मिलेंगे तो वे आराधकभाव सहित ही होंगे; अतः उसके रजकण भी पूर्व में न आये हों ऐसे अपूर्व होंगे, क्योंकि यहाँ जीव के भाव से (शुभ में भी) अपूर्वता आ गयी है; धर्मी जीव की सभी बातें अलौकिक हैं। भक्तामर-स्तोत्र में मानतुंगस्वामी भगवान की भक्ति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु! जगत में उत्कृष्ट शान्तरसरूप परिणमित जितने रजकण थे, वे सब आपकी देहरूप परिणमित हो गये हैं।—इस कथन में गहन भाव भरे हैं। प्रभो! आपके केवलज्ञान की और चैतन्य के उपशमरस की तो अपूर्वता और उसके साथ की परम औदारिक देह में अपूर्वता—ऐसी देह अन्य को नहीं होती। आराधक की सभी बातें जगत से अनोखी हैं, उसके आत्मा की शुद्धता भी जगत से अनोखी है और उसका पुण्य भी अनोखा है।

इस प्रकार मोक्ष और पुण्यफल दोनों की बात को फिर भी कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुझे आदरणीय तो मोक्ष का ही पुरुषार्थ है; पुण्य तो इसका आनुषंगिक फल है अर्थात् अनाज के साथ के घास की तरह यह तो बीच में सहज ही आ जाता है। इसमें भी जहाँ हेयबुद्धि है, वहाँ श्रावक के लिए पाप की तो बात ही कैसी? इस प्रकार धर्मी श्रावक को मोक्षपुरुषार्थ की मुख्यता का उपदेश किया और उसके साथ पुण्य के शुभपरिणाम होते हैं, यह भी बतलाया। ●●●

***** [२६] *****
*
* मोक्ष की साधनासहित ही अणुव्रतादि की सफलता *
*

*
* हे भव्य! तेरा साध्य मोक्ष है; अर्थात् व्रत अथवा महाव्रत के पालन *
* में उस-उस प्रकार की अंतरंग शुद्धि बढ़ती जाए और मोक्षमार्ग सधता *
* जाए—उसे तू लक्ष्य में रखना। मोक्ष के ध्येय को चूककर जो कुछ करने *
* में आवे, वह तो दुःख और संसार का ही कारण है। *
*

धर्मी जीव को मोक्ष ही साध्यरूप है, मोक्षरूप साध्य को भूलकर जो अन्य का आदर करता है, उसके व्रतादि भी संसार के ही कारण होते हैं—ऐसा अब कहते हैं—

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योत्र मोक्षः परं
नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयात् जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत् तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥२६ ॥

अर्थ : भव्य जीव, अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही धारण करते हैं, किन्तु उनके धारण करने से उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है, क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अणुव्रत-महाव्रत आदि व्रत आचरण किये जाते हैं, वे सफल समझे जाते हैं, किन्तु जो व्रत, मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है, संसार के ही कारण हैं; वे दुःखस्वरूप ही हैं, यह भलीभाँति स्पष्ट है; इसलिए भव्यजीवों को मोक्ष के लिए ही व्रतों को धारण करना चाहिए ॥२६ ॥

भविजन अणुव्रत और महाव्रत द्वारा शिवपद ही साधें ।
 क्योंकि मोक्ष में जीव सुखी हो अतः अन्य कुछ नहीं चाहें ॥
 व्रताचरण यदि मोक्ष प्राप्ति के लिये करें तो होय सफल ।
 नहीं तो वे हैं भव के कारण इसलिए दुःखमय निष्फल ॥२६ ॥

यहाँ भव्य जीव को अणुव्रत अथवा महाव्रत द्वारा मात्र मोक्ष ही साध्य है, संसार सम्बन्धी अन्य कोई भी साध्य नहीं, क्योंकि निश्चयनय से मोक्ष में ही जीव सुखी होता है । ऐसी बुद्धि अर्थात् मोक्ष की बुद्धि से जो व्रतादि करने में आते हैं, वे सर्व सफल हैं परन्तु इस मोक्षरूपी ध्येय को भूलकर जो व्रतादि करने में आते हैं, वे तो संसार के कारण हैं और दुःख ही हैं ।

देखो, अधिकार पूरा करते हुए अन्त में स्पष्ट करते हैं कि भाई! हमने श्रावक के धर्मरूप में पूजा-दान आदि अनेक शुभभावों का वर्णन किया तथा अणुव्रत आदि का वर्णन किया, परन्तु उसमें जो शुभराग है, उसे साध्य न मानना, उसको ध्येय न मानना; ध्येय और साध्य तो 'सम्पूर्ण वीतरागभावरूप' मोक्ष ही है, और वही परम सुख है । धर्मी की दृष्टि-रुचि राग में नहीं है; उसे तो मोक्ष को साधने की ही भावना है (क्योंकि) सच्चा सुख मोक्ष में ही है । राग में अथवा पुण्य के फल में कोई सुख नहीं । इसलिए हे भव्य! व्रत अथवा महाव्रत के पालने में उस-उस प्रकार की अन्तरंगशुद्धि बढ़ती जाए और मोक्षमार्ग सधता जाए—उसे तू लक्ष्य में रखना । शुद्धता के साथ-साथ जो व्रत-महाव्रत के परिणाम होते हैं, वे मोक्षमार्ग के साथ निमित्त हैं, परन्तु जरा भी शुद्धता जिसे प्रगट नहीं और मात्र राग की भावना में ही रुक गया है, उसका तो व्रतादि पालन करना भी संसार का कारण होता है और वह दुःख ही प्राप्त करता है ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के यथार्थ व्रत-महाव्रत सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं—यह बात इसमें आ गयी । बीच में व्रत के परिणाम आवेंगे इससे पुण्य उच्च कोटि का बँधेगा और देवलोक का अचिन्त्य वैभव मिलेगा ।—परन्तु हे मोक्षार्थी! तुझे इनमें किसी की रुचि अर्थात् भावना नहीं करनी है । भावना तो मोक्ष की ही करना कि कब यह राग तोड़कर मोक्षदशा प्राप्त हो, क्योंकि मोक्ष में आत्मिक सुख है, स्वर्ग के वैभव में सुख नहीं; वहाँ भी आकुलता के अंगारे हैं ।

धर्मी को भी स्वर्ग में जितना राग और विषयतृष्णा का भाव है, उतना क्लेश है; धर्मी को उससे छूटने की भावना है। ऐसी भावना से मोक्ष के लिए जो व्रत-महाव्रत पालन करने में आवें, वे सर्व सफल हैं और इससे विपरीत संसार के स्वर्गादि के सुख की भावना से जो कुछ करने में आवे, वह दुःख का और भवभ्रमण का कारण है। इसलिए मोक्षार्थी भव्यों को आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके वीतरागता की भावना से शक्ति अनुसार व्रत-महाव्रत करना चाहिए। जैसे किसी ने इष्ट स्थान जाने का सच्चा मार्ग जान लिया है परन्तु चलने में थोड़ी देर लगती है तो भी मार्ग में ही है; उसी प्रकार धर्मी जीव ने वीतरागता का मार्ग देखा है, रागरहित स्वभाव को जाना है, परन्तु सर्वथा राग दूर करने में थोड़ा समय लगता है, तो भी वह मोक्ष के मार्ग में ही है। परन्तु जिसने सच्चा मार्ग नहीं जाना, विपरीत मार्ग माना है, वह शुभराग करे तो भी संसार के मार्ग में है।

निश्चय से वीतरागमार्ग ही मोक्ष का साधन है; शुभराग वास्तव में मोक्ष का साधन नहीं—ऐसा कहने पर किसी को बात न रुचे तो कहते हैं कि भाई! हम अन्य क्या बतावें! वीतरागदेव द्वारा कहा हुआ सत्य मार्ग ही यह है। जिस प्रकार पद्मनन्दी स्वामी ब्रह्मचर्य-अष्टक में ब्रह्मचर्य का उत्तम वर्णन करके अन्त में कहते हैं कि—जो मुमुक्षु है, उसके लिए स्त्री संग के निषेध का उपदेश मैंने दिया है, परन्तु जो जीव भोगरूपी राग के सागर में डूबे हुए हैं, उन्हें इस ब्रह्मचर्य का उपदेश न रुचे तो वे मेरे पर क्रोध न करें क्योंकि मैं तो मुनि हूँ; मुनि के पास तो यही वीतरागी उपदेश होता है, कोई राग के पोषण की बात मुनि के पास नहीं होती। उसी प्रकार यहाँ मोक्ष के पुरुषार्थ में पुण्य का निषेध किया है, वहाँ राग की रुचिवाले किसी जीव को वह न रुचे तो क्षमा करना, क्योंकि सन्तों का उपदेश तो मोक्ष की प्रधानता का है। इसलिए उसमें राग को आदरणीय कैसे कहा जाए?

भाई! तुझसे सम्पूर्ण राग अभी चाहे न छूट सके, परन्तु यह छोड़ने योग्य है, ऐसा सच्चा ध्येय तो पहले ही ठीक कर। ध्येय सच्चा होगा तो वहाँ पहुँचेगा, परन्तु ध्येय ही खोटा रखोगे—राग का ध्येय रखोगे तो राग तोड़कर वीतरागता कहाँ से लाओगे? अतः सत्यमार्ग वीतरागी सन्तों ने प्रसिद्ध किया है। ●●●

***** [२७] *****
*
* श्रावकधर्म की आराधना का अन्तिम फल : मोक्ष *
*

*
* श्रावकधर्म का अधिकार पूर्ण करते हुए मंगल आशीर्वादपूर्वक श्री *
* मुनिराज कहते हैं कि इस श्रावकधर्म का प्रकाश जयवन्त रहो... ऐसे धर्म के *
* आराधक जीव जयवन्त रहो! धर्म की आराधना द्वारा ही मनुष्यभव की *
* सफलता है। *
*

इस देशव्रत-उद्योतन अधिकार में श्री पद्मनन्दी मुनिराज ने श्रावक के धर्म का बहुत वर्णन २६ गाथाओं में किया है। अब अन्तिम गाथा में आशीर्वादपूर्वक अधिकार समाप्त करते हुए कहते हैं कि उत्तम कल्याण की परम्परापूर्वक मोक्षफल देनेवाला यह देशव्रत का प्रकाश जयवन्त रहे—

यत्कल्याणपरंपरार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्येगुणैः प्रापितं
श्रीमत्पंकजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

अर्थ : जो देशव्रतोद्योतन संसार में भव्यजीवों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त कल्याणों का देनेवाला है और सबसे अन्त में अनन्त सुखों का भण्डार जो मोक्ष, उसका देनेवाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेक गुण, उनसे होती है और जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दिनामक आचार्य ने की है ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवन्त रहो ॥२७॥

जग में जो है भव्यजनों को सब कल्याणों का दाता ।
 और अन्त में सुख अनन्तमय मोक्ष सदन में पहुँचाता ॥
 दुर्लभ नरभव आदि गुणों से जिसकी होती प्राप्ति अरे ।
 पद्मनन्दि विरचित यह देशव्रतोद्योतन जयवन्त रहे ॥२७॥

धर्मी जीव के लिए यह देशव्रत संसार में तो उत्तम कल्याण की परम्परा (चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद, तीर्थकरपद आदि) देनेवाला है और अन्त में अनन्त सुख का धाम ऐसे मोक्ष को अवश्य देता है । श्री पद्मनन्दी मुनि ने जिसका वर्णन किया है, तथा उत्तम दुर्लभ मनुष्यना और सम्यग्दर्शनादि गुण के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है—ऐसे देशव्रत का उद्योतन (प्रकाश) जयवन्त रहे ।

जो जीव धर्मी है, जिसे आत्मा का भान है, जो मोक्षमार्ग की साधना में तत्पर है, उसे व्रत-महाव्रत के राग से ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि चक्रवर्तीपना, तीर्थकरपना आदि लोकोत्तर पदवी मिल जाती है, पंच कल्याणक आदि की कल्याण परम्परा उसे प्राप्त होती है और अन्त में राग तोड़कर वह मोक्ष पाता है ।

देखो ! यह मनुष्यपने की सफलता का उपाय ! जीवन में जिसने धर्म का उल्लास नहीं किया, आत्महित के लिए रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोग के पाप भाव में ही जीवन बिताया है, वह तो अवतार निष्फल गँवाकर संसार में ही परिभ्रमण करता है । जबकि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महित का उपाय करता है, सम्यग्दर्शनसहित व्रतादि का पालन करता है और स्वर्ग में जाकर वहाँ से मनुष्य होकर मुनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है ।

भाई ! ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्मा के संग का ऐसा योग संसार में बहुत दुर्लभ है ; महा भाग्य से तुझे ऐसा सुयोग मिला है तो इसमें सर्वज्ञ की पहिचानकर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर और उसके पश्चात् शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार कर, दान आदि कर । उस दान का तो बहुत प्रकार से उपदेश दिया है ।

वहाँ कोई कहे कि—आप दान की तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछे का (स्त्री-पुत्रादि का) कोई विचार करना या नहीं ?—तो कहते हैं कि भाई ! तू तनिक धीरज धर ! यदि तुझे आगे-पीछे का तेरा हित का सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा ।

वर्तमान में स्त्री-पुत्रादि के बहाने तू ममता में डूबा हुआ है और अपने भविष्य के हित का विचार नहीं करता। भविष्य में मैं मर जाऊँगा तो स्त्री-पुत्रादि का क्या होगा—इस प्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्य में तेरी आत्मा का क्या होगा—इसका विचार क्यों नहीं करता? अरे, राग तोड़कर समाधि करने का समय आया, उसमें फिर आगे-पीछे का अन्य क्या विचार करना? जगत के जीवों को संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय अनुसार सबको हुआ करते हैं, ये कोई तेरे किये नहीं होते। इसलिए भाई! दूसरे का नाम लेकर तू अपनी ममता को मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयों की पूँजी हो परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदय का गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूँजीवाला भी जो धर्म-प्रसंग में तन-मन-धन उल्लासपूर्वक लगाता है, वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है। सरकारी टैक्स (कर) आदि में परतन्त्ररूप से देना पड़े, उसे दे परन्तु स्वयं ही धर्म के काम में होंश पूर्वक जीव खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तुझे तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्म की भक्ति करते नहीं आती और तुझे श्रावकधर्म का पालन करना नहीं आता, श्रावक तो देव-गुरु-धर्म के लिए उल्लासपूर्वक दानादि करता है।

एक मनुष्य कहता है कि महाराज! मुझे व्यापार में पच्चीस लाख रुपये मिलनेवाले थे, परन्तु रुक गये, यदि वे मिल जाँएँ तो उसमें से पाँच लाख रुपये धर्मार्थ में देने का विचार था, इसलिए आशीर्वाद दीजिए! अरे मूर्ख? कैसा आशीर्वाद? क्या तेरे लोभ-पोषण के लिए ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें! ज्ञानी तो धर्म की आराधना का आशीर्वाद देते हैं। पाँच लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तव में तो तुझे बीस लाख लेना है और इसकी ममता पोसनी है। 'जैसे कोई माने कि प्रथम जहर खा लूँ, पीछे उसकी दवा करूँगा'—इसके जैसे तेरी मूर्खता है। तुझे वास्तव में धर्म का प्रेम हो और तुझे राग घटाना हो तो अभी तेरे पास जो है, उसमें से राग घटा न! तुझे राग घटाकर दान करना हो तो कौन तुझे रोकता है?

भाई! ऐसा मनुष्यपना और ऐसा अवसर प्राप्त कर तू धन प्राप्त करने की तृष्णा के पाप में अपना जीवन नष्ट कर रहा है।—इसके बदले धर्म की आराधना कर। धर्म की आराधना द्वारा ही मनुष्यभव की सफलता है। धर्म की आराधना के बीच पुण्यफलरूप

बड़े-बड़े निधान सहज ही मिल जावेंगे; तुझे उनकी इच्छा नहीं करनी पड़ेगी।—‘माँगे उसके दूर और त्यागे उसके आगे’—पुण्य की इच्छा करता है, उसे पुण्य नहीं होता। माँगे उसके आगे अर्थात् कि दूर जाता है; और त्यागे उसके अर्थात् जो पुण्य की रुचि छोड़कर चैतन्य को साधता है, उसको पुण्य का वैभव समक्ष आता है। धर्मी जीव आत्मा का भान करके और पुण्य की अभिलाषा सर्वथा छोड़कर मोक्ष की ओर चलने लगा है, बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है, थोड़ा शेष है, वहाँ पुरुषार्थ की मन्दता से शुभराग हुआ अर्थात् स्वर्गादि के एक या दो उत्तम भवरूपी धर्मशाला में थोड़े समय रुकता है, उसे ऐसा ऊँचा पुण्य होता है कि जहाँ जन्मता है, वहाँ समुद्र में से मोती पकते हैं, आकाश में से रजकण उत्कृष्ट रत्नरूप परिणमन कर बरसते हैं, पत्थर की खान में नीलमणि उत्पन्न होते हैं, यदि राजा हो तो उसे प्रजा से कर आदि नहीं लेना पड़ता परन्तु प्रजा स्वयं चलकर देने आती है और सन्त-मुनि-धर्मात्माओं का समूह और तीर्थकरदेव का संयोग मिलता है और सन्तों के सत्संग में पुनः आराधकभाव पुष्ट कर, राज-वैभव छोड़, मुनि होकर केवलज्ञान प्रगट कर मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वज्ञदेव की पहिचानपूर्वक श्रावक ने जो धर्म की आराधना की, उसका यह उत्तम फल कहा है—वह जयवन्त हो और साधनेवाले साधक जगत में जयवन्त हों!—ऐसे आशीर्वादसहित यह अधिकार समाप्त होता है। ●●●

(श्री पद्मनन्दीपच्चीसी के देशव्रत-उद्योतन पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन पूर्ण हुए।)

*
* **स्वतन्त्रता की घोषणा** *
*

[चार बोलों से स्वतन्त्रता की घोषणा करता हुआ विशेष प्रवचन]

[समयसार-कलश २११ -- सं० २०२२, कार्तिक शुक्ला ३-४]

*
* भगवान सर्वज्ञदेव का देखा हुआ वस्तुस्वभाव कैसा है, उसमें कर्ता-
* कर्मपना किस प्रकार है, वह अनेक प्रकार से दृष्टान्त और युक्ति पूर्वक पुनः
* पुनः समझाते हुए, उस स्वभाव के निर्णय में मोक्षमार्ग किस प्रकार आता है
* वह पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में बतलाया है। इनमें पुनः पुनः भेदज्ञान
* कराया है और वीतरागमार्ग के रहस्यभूत स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए
* कहा है कि—सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए इस परम सत्य वीतरागविज्ञान को जो
* समझेगा उसका अपूर्व कल्याण होगा।
*

कर्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है; अन्य के साथ उसका कर्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को आचार्यदेव ने चार बोलों से स्पष्ट समझाया है:—

(१) परिणाम; अर्थात्, पर्याय ही कर्म; अर्थात्, कार्य है।

(२) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं होते, क्योंकि परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) के आश्रय से होते हैं; अन्य का परिणाम अन्य के आश्रय से नहीं होता।

(३) कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, परिणाम, वस्तु के बिना नहीं होता।

(४) वस्तु की निरन्तर एक समान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामस्वरूप कर्म की कर्ता हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप का महान् सिद्धान्त आचार्यदेव ने समझाया है।

देखो! इसमें वस्तुस्वरूप को चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगत् में छह वस्तुएँ हैं - आत्मा, अनन्त; पुद्गलपरमाणु अनन्तानन्त; धर्म, अधर्म व आकाश, एक-एक और काल, असंख्यात। इन छहों प्रकार की वस्तुओं और उनके स्वरूप का वास्तविक नियम क्या है? सिद्धान्त क्या है? उसे यहाँ चार बोलों में समझाया जा रहा है।

(१) परिणाम ही कर्म है।

‘ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः’; अर्थात्, परिणामी वस्तु का जो परिणाम है, वही निश्चय से उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था। पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म / कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भाव से परिणमन करे, उस भाव को परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो - ये सब शब्द वस्तु के परिणाम के पर्यायवाची ही हैं।

जैसे कि आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणमन होने से जो जानने की पर्याय हुई, वह उसका कर्म है - वर्तमान कर्म है। राग या शरीर, वह कोई ज्ञान का कार्य नहीं, परन्तु ‘यह राग है, यह शरीर है’ - ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा के परिणाम, वह आत्मा का कार्य है और जड़ के परिणाम; अर्थात्, जड़ की अवस्था, वह जड़ का कार्य है। इस प्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

(२) परिणाम, वस्तु का ही होता है, दूसरे का नहीं।

अब, इस दूसरे बोल में कहते हैं कि जो परिणाम होता है, वह परिणामी पदार्थ का ही होता है; वह किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता। जिस प्रकार सुनते समय जो ज्ञान होता है, वह कार्य है - कर्म है। यह ज्ञान, किस का कार्य है? वह ज्ञान, शब्दों का कार्य

नहीं है परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है, उसी का वह कार्य है। परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता।

आत्मा, परिणामी है, उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता – यह सिद्धान्त है परन्तु वाणी के बिना ज्ञान नहीं होता – यह बात सत्य नहीं है। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा नहीं, परन्तु आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा है। इस प्रकार परिणामी आत्मा के आश्रय से ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो! यह महासिद्धान्त है, वस्तुस्वरूप का अबाधित नियम है।

परिणामी के आश्रय से ही उसके परिणाम होते हैं। जाननेवाला आत्मा, वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्मा के हैं, वाणी के नहीं। ज्ञानपरिणाम, वाणी के रजकणों के आश्रित नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु के आश्रय से होते हैं। आत्मा, त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपान्तरित होकर नवीन-नवीन अवस्थाओं को धारण करता है। ज्ञान-आनन्द इत्यादि जो उसके वर्तमानभाव हैं, वे उसके परिणाम हैं।

परिणाम, परिणामी के ही हैं; अन्य के नहीं – इसमें जगत् के सभी पदार्थों का नियम आ जाता है। परिणाम, परिणामी के ही आश्रित होते हैं। ज्ञानपरिणाम, आत्मा के आश्रित हैं, भाषा आदि के आश्रित नहीं हैं; इसलिए इसमें पर की ओर देखना नहीं रहता, परन्तु अपनी-अपनी वस्तु के सामने देखकर स्वसन्मुख परिणामन करना रहता है, उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह अपने जड़ परमाणुओं के आश्रित है। बोलने की जो इच्छा हुई, उस इच्छा के आश्रित भाषा के परिणाम तीन काल में भी नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली, उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही हुआ है; भाषा के आश्रय से तथा इच्छा के आश्रय से ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के आश्रय से ही होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते। इस प्रकार यहाँ अस्ति-नास्ति से अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है। यह

बात सत्य के सिद्धान्त की; अर्थात्, वस्तु के सत्स्वरूप की है। अज्ञानी इस बात को पहिचाने बिना मूढ़तापूर्वक अज्ञानता में ही जीवन पूर्ण कर डालता है।

भाई! आत्मा क्या है और जड़ क्या है? – इनकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूप के वास्तविक सत् को समझे बिना ज्ञान में सत्पना नहीं आता; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान नहीं होता; वस्तुस्वरूप के सत्यज्ञान के बिना सच्ची रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना वस्तु में स्थिरतारूप चारित्र प्रगट नहीं होता, शान्ति नहीं होती, समाधान और सुख नहीं होता; इसलिए वस्तु क्या है? उसे प्रथम समझना चाहिए। वस्तुस्वरूप को समझने से मेरे परिणाम पर से और पर के परिणाम मुझ से होते हैं – ऐसी पराश्रितबुद्धि नहीं रहती; अर्थात्, स्वाश्रित स्वसन्तुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्मा का जो ज्ञान होता है, उसको जाननेवाला परिणाम, आत्मा के आश्रित है; वह परिणाम, वाणी के आश्रय से नहीं होता है, कान के आश्रय से नहीं होता है तथा उस समय की इच्छा के आश्रय से भी नहीं होता है। यद्यपि इच्छा भी आत्मा का परिणाम है परन्तु उस इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है; ज्ञानपरिणाम, आत्मवस्तु के आश्रित है; इसलिए वस्तु के सन्मुख दृष्टि कर।

बोलने की इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उस समय उस प्रकार का ज्ञान हो – ऐसी चारों क्रियाएँ एक साथ होते हुए भी कोई क्रिया किसी के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने परिणामी द्रव्य के ही आश्रित हैं। जो इच्छा है, वह आत्मा के चारित्रगुण का परिणाम है। होंठ हिले, वह होंठ के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आधार से नहीं हुई। भाषा प्रगट हो, वह भाषावर्गणा के रजकणों की अवस्था है; वह अवस्था इच्छा के आश्रित या होंठ के आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामीरूप रजकणों के आश्रय से उत्पन्न हुई और उस समय का ज्ञान, आत्मवस्तु के आश्रित है; इच्छा अथवा भाषा के आश्रित नहीं है – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई! तीन काल-तीन लोक में सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; अज्ञानी उसे जाने बिना और समझने की परवाह किये बिना अन्धे की भाँति चला जाता है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान के बिना किसी प्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूप को बारम्बार लक्ष्य लेकर परिणामों से भेदज्ञान करने के लिए यह बात है।

एक वस्तु के परिणाम, अन्य वस्तु के आश्रित तो हैं नहीं, परन्तु उस वस्तु में भी उसके एक परिणाम के आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तु के आश्रित ही परिणाम हैं – यह महान् सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान – यह तीनों एक साथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान, जीव के आश्रित हैं और भाषा, जड़ के आश्रित हैं; इच्छा के कारण भाषा हुई और भाषा के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित भी ज्ञान नहीं है। इच्छा और ज्ञान – ये दोनों आत्मा के परिणाम हैं, तथापि एक के आश्रित दूसरे के परिणाम नहीं हैं। ज्ञानपरिणाम और इच्छापरिणाम दोनों भिन्न – भिन्न हैं। जो ज्ञान हुआ, वह इच्छा का कार्य नहीं है और जो इच्छा हुई, वह ज्ञान का कार्य नहीं है। जहाँ इच्छा भी ज्ञान का कार्य नहीं, वहाँ जड़ भाषा आदि तो ज्ञान के कार्य कहाँ से हो सकते हैं? वे तो जड़ के ही कार्य हैं।

जगत् में जो भी कार्य होते हैं, वे सत् की अवस्थाएँ हैं। किसी वस्तु के ही परिणाम होते हैं परन्तु वस्तु के बिना अधर से नहीं होते। परिणामी का परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तु के आश्रित परिणाम होते हैं; पर के आश्रित नहीं होते।

परमाणु में होंठों का हिलना और भाषा का परिणमन – ये दोनों भी भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा में इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलने के आश्रित, भाषा की पर्याय नहीं है। होंठ का हिलना, वह होंठ के पुद्गलों के आश्रित है; भाषा का परिणमन, वह भाषा के पुद्गलों के आश्रित है। होंठ और भाषा; इच्छा और ज्ञान – इन चारों का काल एक होने पर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम, आत्माश्रित होने पर भी इच्छापरिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं हैं। ज्ञान, वह आत्मा का परिणाम है, इच्छा का नहीं; इसी प्रकार इच्छा, वह आत्मा का परिणाम है, ज्ञान का नहीं। इच्छा को जाननेवाला ज्ञान, वह इच्छा का कार्य नहीं है; उसी प्रकार वह ज्ञान, इच्छा को उत्पन्न भी नहीं करता। इच्छापरिणाम, आत्मा का कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञान का कार्य नहीं है। भिन्न-भिन्न गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। एक ही द्रव्य में होने पर भी एक गुण के आश्रित दूसरे गुण के परिणाम नहीं हैं।

अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! इसमें पर के आश्रय की बात ही कहाँ रही ?

आत्मा में चारित्रगुण इत्यादि अनन्त गुण हैं। उनमें चारित्र का विकृतपरिणाम इच्छा है, वह चारित्रगुण के आश्रित है और उस समय इच्छा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञानगुणरूप परिणामी का परिणाम है; वह कहीं इच्छा के परिणाम के आश्रित नहीं है। इस प्रकार इच्छापरिणाम और ज्ञानपरिणाम – इन दोनों का भिन्न-भिन्न परिणामन है; दोनों एक-दूसरे के आश्रित नहीं है।

भाई! सत् जैसा है, उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो और सत् का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थ का आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो; उसे ही धर्म कहा जाता है। सत् से विपरीत ज्ञान करे, उसे धर्म नहीं होता। स्व में स्थिरता ही मूलधर्म है परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा ?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीर की अवस्था, हलन-चलन, बोलना – ये सब परिणामी पुद्गलों के परिणाम हैं; उन पुद्गलों के आश्रित वे परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छा के आश्रित नहीं; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं है। पुद्गल के परिणाम, आत्मा के आश्रित मानना और आत्मा के परिणाम, पुद्गलाश्रित मानना, इसमें तो विपरीतमान्यतारूप मूढ़ता है।

जगत् में भी जो वस्तु जैसी हो, उससे विपरीत बतलानेवाले को लोग मूर्ख कहते हैं तो फिर सर्वज्ञकथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध माननेवाला तो लोकोत्तर मूर्ख और अविवेकी ही है। विवेकी और विलक्षण कब कहा जाए? जबकि वस्तु के जो परिणाम हुए, उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी – वस्तु के आश्रित समझे और दूसरे के आश्रित न माने, तब स्व-पर का भेदज्ञान होता है और तभी विवेकी है – ऐसा कहने में आता है। आत्मा के परिणाम, पर के आश्रित नहीं होते। विकारी और अविकारी जितने भी परिणाम जिस वस्तु के हैं, वे उस वस्तु के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं।

पदार्थ के परिणाम, वे उसी पदार्थ का कार्य है – यह एक बात। दूसरी बात यह कि वे परिणाम, उसी पदार्थ के आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते – यह नियम जगत् के समस्त पदार्थों में लागू होता है।

देखो भाई! यह तो भेदज्ञान के लिए वस्तुस्वभाव के नियम बतलाये गये। अब, धीरे-धीरे दृष्टान्तपूर्वक युक्ति से वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

देखो! किसी को ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि मैं सौ रुपये दान में दूँ, उसका वह परिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हुआ है; वहाँ रुपये जाने की जो क्रिया होती है, वह रुपये के रजकणों के आश्रित है, जीव की इच्छा के आश्रित नहीं। अब उस समय उन रुपयों की क्रिया का ज्ञान अथवा इच्छा के भाव का ज्ञान होता है, वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित होता है। इस प्रकार परिणामों का विभाजन करके वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना चाहिए।

भाई! तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा - ये दोनों परिणाम, आत्मा में होते हुए भी जब एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं तो फिर पर के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही? दान की इच्छा हुई और रुपये दिये गये; वहाँ रुपये जाने की क्रिया भी हाथ के आश्रित नहीं है, हाथ का हिलना इच्छा के आश्रित नहीं है और इच्छा का परिणाम, ज्ञान के आश्रित नहीं है; सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तु के आधार से हैं।

देखो! यह सर्वज्ञ के पदार्थ-विज्ञान का पाठ है - ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान, सच्चा पदार्थ-विज्ञान है। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणामन करके नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं - ये बात चौथे बोल में कही जाएगी। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे नित्य स्थायी रहें और उनमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उनके अपने ही आश्रित हुआ करे। वस्तुस्वभाव का ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

- जीव को इच्छा हुई, इसलिए हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये - ऐसा नहीं है।
- इच्छा का आधार आत्मा है; हाथ और रुपयों का आधार परमाणु है।
- रुपयों के ज्ञान से इच्छा हुई - ऐसा भी नहीं है।
- हाथ का हलन-चलन, वह हाथ के परमाणुओं को आधार से है।
- रुपयों का आना-जाना, वह रुपयों के परमाणुओं के आधार से है।
- इच्छा का होना, वह आत्मा का चारित्रगुण के आधार से है।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्य के परिणामों की भिन्नता की बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्दर की बात लेना है। एक ही द्रव्य के अनेक परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं - ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनों के कार्य भिन्न हैं; एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

किसी ने गाली दी और जीव को द्वेष के पापपरिणाम हुए; वहाँ वे पाप के परिणाम प्रतिकूलता के कारण नहीं हुए और गाली देनेवाले के आश्रित भी नहीं हुए, परन्तु चारित्रगुण के आश्रित हुए हैं। चारित्रगुण ने उस समय उस परिणाम के अनुसार परिणामन किया है; अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब, द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ' - यह ज्ञानपरिणाम, ज्ञानगुण के आश्रित है; क्रोध के आश्रित नहीं है। ज्ञानस्वभावी द्रव्य के आश्रित ज्ञानपरिणाम होते हैं; अन्य के आश्रित नहीं होते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनपरिणाम, सम्यग्ज्ञानपरिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादि में भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम, द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं तथा परस्पर एक-दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं।

गाली के शब्द अथवा द्वेष के समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, शब्दों के आश्रित नहीं है और क्रोध के आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है; इसलिए उस पर दृष्टि लगा तो तेरी पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट हो जाएगा। इस मोक्षमार्गरूपी कार्य का कर्ता भी तू ही है; अन्य कोई नहीं।

अहो! यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझ में आ जाए - ऐसा है। जरा अन्तर में उतरकर लक्ष्य में लेना चाहिए कि आत्मा अस्तिरूप है, उसमें ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है; इस प्रकार अनन्त गुण हैं। इन अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रति समय होते हैं, उन सभी का आधार परिणामी - ऐसा आत्मद्रव्य है; अन्य वस्तु तो उनका आधार नहीं है परन्तु अपने में दूसरे गुणों के परिणाम भी उनका आधार नहीं है। जैसे कि श्रद्धापरिणाम का आधार ज्ञानपरिणाम नहीं है और ज्ञानपरिणाम का आधार श्रद्धापरिणाम नहीं है; दोनों परिणामों का आधार, आत्मा ही है। इसी प्रकार सर्व गुणों के परिणामों के लिये समझना। इस प्रकार परिणामी का ही परिणाम है; अन्य का नहीं।

इस २११ वें कलश में आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के चार बोलों में से अभी दूसरे बोल का विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि 'परिणाम एव किल कर्म' और फिर कहा कि 'स भवति परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्' परिणाम ही कर्म है और वह परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं - ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्योन्मुख लक्ष्य जाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनपरिणाम हुआ, वह आत्मा का कर्म है, वह आत्मारूप परिणामी के आधार से हुआ है। पूर्व के मन्दराग के आश्रय से अथवा वर्तमान में शुभराग के आश्रय से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान के परिणाम नहीं होते। यद्यपि राग भी है तो आत्मा का परिणाम, तथापि श्रद्धापरिणाम से रागपरिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धा के परिणाम, राग के आश्रित नहीं हैं क्योंकि परिणाम, परिणामी के ही आश्रय से होते हैं; अन्य के आश्रय से नहीं होते।

उसी प्रकार चारित्रपरिणाम में-आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह चारित्र का कार्य है; वह कार्य श्रद्धापरिणाम के आश्रित नहीं है, ज्ञानपरिणाम के आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करनेवाले आत्मा के ही आश्रित है। शरीरादि के आश्रय से चारित्रपरिणाम नहीं है।

श्रद्धा के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

ज्ञान के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

स्थिरता के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

आनन्द के परिणाम, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

बस, मोक्षमार्ग के सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं; अन्य के आश्रित नहीं हैं। उस समय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं, उनके आश्रित भी ये परिणाम नहीं हैं। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों के परिणाम होते हैं, वे कर्म हैं; उनका आधार धर्मी अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उस समय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं, उनके आधार से श्रद्धा इत्यादि के परिणाम नहीं हैं। निमित्तादि के आधार से तो नहीं हैं परन्तु अपने दूसरे परिणाम के आधार से भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्य में एक साथ होनेवाले परिणामों में भी एक परिणाम, दूसरे परिणाम के आश्रित नहीं है, द्रव्य के ही

आश्रित सभी परिणाम हैं। सभी परिणामरूप से परिणमन करनेवाला 'द्रव्य' ही है; अर्थात्, द्रव्यसन्मुख लक्ष्य जाते ही सम्यक् पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह ! देखो, आचार्यदेव की शैली !! थोड़े में बहुत समा देने की अद्भुत शैली है। चार बोलों के इस महान् सिद्धान्त में वस्तुस्वरूप के बहुत से नियमों का समावेश हो जाता है। यह त्रिकाल सत्य, सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है।

अहो ! यह परिणामी के परिणाम की स्वाधीनता, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप का तत्त्व है। सन्तों ने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थ का पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अन्तर में इसका मन्थन करके देख, तो मालूम हो कि अनन्त सर्वज्ञों तथा सन्तों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवन्त दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है किन्तु वस्तुतः दिव्यध्वनि तो परमाणुओं के आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु-आश्रित हैं ? हाँ, दिव्यध्वनि, वह पुद्गल का परिणाम है और पुद्गलपरिणाम का आधार तो पुद्गलद्रव्य ही होता है; जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवान का आत्मा तो अपने केवलज्ञानादि का आधार है। भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि निज-परिणामरूप परिणमन करता है परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके परिणमित नहीं होता; उस रूप तो पुद्गल ही परिणमित होता है। परिणाम, परिणामी के ही होते हैं; अन्य के नहीं।

भगवान की सर्वज्ञता के आधार से दिव्यध्वनि के परिणाम हुए - ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषारूप परिणाम, अनन्त पुद्गलाश्रित हैं और सर्वज्ञता आदि परिणाम, जीवाश्रित है; इस प्रकार दोनों की भिन्नता है। कोई किसी का कर्ता या आधार नहीं है।

देखो ! यह भगवान आत्मा की अपनी बात है। समझ में नहीं आयेगी - ऐसा नहीं मानना; अन्तरलक्ष्य करे तो समझ में आये - ऐसी सरल है। देखो, लक्ष्य में लो कि अन्दर कोई वस्तु है या नहीं ? और यह जो जानने के या रागदि के भाव होते हैं - इन भावों का कर्ता कौन है ? आत्मा स्वयं उनका कर्ता है। इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिये दूसरी पढ़ाई की कहाँ आवश्यकता है ? यह अज्ञानी जीव, दुनियाँ की बेगार / मजदूरी

करके दुःखी होता है, उसके बदले यदि वस्तुस्वभाव को समझे तो कल्याण हो जाए। अरे जीव! ऐसे सुन्दर न्याय द्वारा सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे तू समझ!

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के दो बोल हुए।

अब, तीसरा बोल -

(३) कर्ता के बिना, कर्म नहीं होता

कर्ता; अर्थात्, परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म; अर्थात्, उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात्, वस्तु के बिना पर्याय नहीं होती; सर्वथा शून्य में से कोई कार्य उत्पन्न हो जाए - ऐसा नहीं होता।

देखो! यह वस्तुविज्ञान के महान सिद्धान्त हैं, इस पर 211 वें कलश में चार बोलों द्वारा चारों पक्षों से स्वतन्त्रता सिद्ध की है। अज्ञानी, विदेशों में अज्ञान की पढ़ाई के पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेव कथित इस परमसत्य वीतरागी-विज्ञान को समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(१) परिणाम, सो कर्म - यह एक बात।

(२) वह परिणाम किसका ? कि परिणामी वस्तु का परिणाम है, दूसरे का नहीं। यह दूसरा बोल; इसका बहुत विस्तार किया।

अब, यहाँ इस तीसरे बोल में कहते हैं कि परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तु से भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो - ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तु में ही उसके परिणाम होते हैं; इसलिए परिणामी वस्तु, वह कर्ता है; उसके बिना कार्य नहीं होता। देखो, इसमें निमित्त के बिना नहीं होता - ऐसा नहीं कहा। निमित्त, निमित्त में रहता है, वह कहीं इस कार्य में नहीं आ जाता; इसलिए निमित्त के बिना कार्य होता है परन्तु परिणामी के बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्त में है; इसमें (कार्य में) उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तु की सत्ता में ही उसका कार्य होता है।

आत्मा के बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामों का कर्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। 'कर्म कृतं शून्यं न भवति' - प्रत्येक पदार्थ की अवस्था उस-उस पदार्थ के बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये; वस्तु नहीं

है और अवस्था हो गयी - ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है - प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि पुद्गल, जड़कर्मरूप होते हैं, वे कर्मपरिणाम, कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्ता कौन? - तो कहते हैं कि उस पुद्गलकर्मरूप परिणामित होनेवाले रजकण ही कर्ता हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

- आत्मा, कर्ता होकर जड़कर्म का बन्ध करे - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- जड़कर्म, आत्मा को विकार करायें - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- मन्दकषाय के परिणाम, सम्यक्त्व का आधार हों - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- शुभराग से क्षायिकसम्यक्त्व हो - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह सब तो विपरीत है, अन्याय है। भाई! तेरे यह अन्याय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा - ऐसी करुणा सन्तों को आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्यस्वरूप को समझें और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें - ऐसी उनकी भावना है।

भाई! तेरे सम्यग्दर्शन का आधार, तेरा आत्मद्रव्य है; शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग, वह कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य - ऐसा त्रिकाल में नहीं है। वस्तु का जो स्वरूप है, वह तीन काल में आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोई जीव, अज्ञान से उसे विपरीत माने, उससे कहीं सत्य बदल नहीं जाता। कोई समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे, वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे, उनकी तो बात ही क्या? वे तो संसार में भटक ही रहे हैं।

देखो! वाणी सुनी, इसलिए ज्ञान होता है न? परन्तु सोनगढ़वाले इन्कार करते हैं कि वाणी के आधार से ज्ञान नहीं होता - ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं - लेकिन भाई! यह तो वस्तुस्वरूप है, त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि ज्ञान, आत्मा के आश्रय से होता है; ज्ञान, आत्मा का कार्य है, दिव्यध्वनि के परमाणु का कार्य नहीं है। ज्ञानकार्य का कर्ता, आत्मा है; न कि वाणी के रजकण। जिस पदार्थ के

जिस गुण का जो वर्तमान होता है, वह अन्य पदार्थ के अन्य गुण के आश्रय से नहीं होता। उसका कर्ता कौन? तो कहते हैं कि वस्तु स्वयं। कर्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तु में होने का नियम है, वे भिन्न वस्तु में नहीं होते।

यह लकड़ी ऊपर उठी, वह कार्य है; यह किसका कार्य है? कर्ता का कार्य है। कर्ता के बिना कार्य नहीं होता। कर्ता कौन है? कि लकड़ी के रजकण ही लकड़ी की इस अवस्था के कर्ता है; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्ता नहीं हैं।

अब, अन्तर का सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो किसी आत्मा में इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छा के आधार से सम्यग्ज्ञान नहीं है और इच्छा, सम्यग्ज्ञान का कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता होकर उस कार्य को करता है। कर्ता के बिना कर्म नहीं है और दूसरा कोई कर्ता नहीं है; इसलिए जीव कर्ता द्वारा ज्ञान कार्य होता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों के सर्व कार्यों में सर्व पदार्थ का कर्तापना है – ऐसा समझना चाहिए।

देखो भाई! यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बात है, इसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिए। अहा! सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; सन्तों ने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीच में कहीं अटकना पड़े – ऐसा नहीं है। पर से भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाए। बाहर से तथा अन्तर से ऐसा भेदज्ञान समझने पर, मोक्ष हथेली में आ जाता है। मैं तो पर से पृथक् हूँ और मुझमें एक गुण का कार्य दूसरे गुण से नहीं है – यह महान् सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभाव से अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्ता के बिना नहीं होता – यह बात तीसरे बोल में कहीं और चौथे बोल में कर्ता की (वस्तु की) स्थिति एकरूप; अर्थात्, सदा एक समान नहीं होती, परन्तु वह नये-नये परिणामरूप से बदलती रहती है – यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचन में इस चौथे बोल का विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोल का विशेष विस्तार आया है।

कर्ता के बिना कार्य नहीं होता – यह सिद्धान्त है। वहाँ कोई कहे कि यह जगत्, कार्य है और ईश्वर उसका कर्ता है – तो यह बात वस्तुस्वरूप की नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने पर्याय का ईश्वर है और वही कर्ता है; उससे भिन्न दूसरा कोई या अन्य कोई

पदार्थ कर्ता नहीं है। पर्याय, वह कार्य और पदार्थ उसका कर्ता। कर्ता के बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्ता नहीं है।

कोई भी अवस्था हो - शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था; उसका कर्ता न हो - ऐसा नहीं होता तथा दूसरा कोई कर्ता हो - ऐसा भी नहीं होता।

प्रश्न - तो क्या भगवान उसके कर्ता हैं ?

उत्तर - हाँ, भगवान कर्ता अवश्य हैं परन्तु कौन भगवान है ? अन्य कोई भगवान नहीं, परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वह कर्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्धपरिणामों का कर्ता है। जड़ के परिणाम को जड़ पदार्थ करता है, वह अपना भगवान है। प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी अवस्था की रचयिता - ईश्वर है। प्रत्येक पदार्थ अपना / स्व का स्वामी है; उसे पर का स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोग के बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा नहीं है परन्तु वस्तु परिणमित हुए बिना अवस्था नहीं होती - ऐसा सिद्धान्त है। पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ, उसका कर्ता आत्मद्रव्य है। पूर्व पर्याय में तीव्र राग था, इसलिए वर्तमान में राग हुआ - इस प्रकार पूर्व पर्याय में इस पर्याय का कर्तापना नहीं है। वर्तमान में आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्ता हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, आनन्दपरिणाम, उन सबका कर्ता आत्मा है; पर नहीं। पूर्व के परिणाम भी कर्ता नहीं तथा वर्तमान में उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्ता नहीं हैं; आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता है। शास्त्र में पूर्व पर्याय को कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व-पश्चात् की सन्धि बतलाने के लिये कहा है परन्तु पर्याय का कर्ता तो उस समय वर्तता हुआ द्रव्य है; वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिस समय सम्यग्दर्शनपर्याय हुई, उस समय उसका कर्ता आत्मा ही है; पूर्व की इच्छा, वीतराग की वाणी या शास्त्र - वे कोई वास्तव में इस सम्यग्दर्शन के कर्ता नहीं हैं।

उसी प्रकार ज्ञानकार्य का कर्ता भी आत्मा ही है। इच्छा का ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छा का कार्य नहीं है और वह इच्छा, ज्ञान का कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तु के होने पर भी उनमें कर्ता-कर्मपना नहीं है, कर्ता तो परिणामी वस्तु है।

पुद्गल में खट्टी-खारी अवस्था थी और ज्ञान के तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्गल के परिणाम हैं और पुद्गल उनका कर्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है, उस ज्ञान का कर्ता वह खट्टी-खारी अवस्था नहीं है। अहो! कितनी स्वतन्त्रता!! उसी प्रकार शरीर में रोगादि कार्य हो, उसके कर्ता वे पुद्गल हैं; आत्मा नहीं और उस शरीर की अवस्था का जो ज्ञान हुआ, उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा, कर्ता होकर ज्ञानपरिणाम को करता है परन्तु शरीर की अवस्था को वह नहीं करता।

भाई! यह तो परमेश्वर होने के लिये परमेश्वर के घर की बात है। परमेश्वर सर्वज्ञदेव कथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगत् में चेतन या जड़ अनन्त पदार्थ अनन्तरूप से नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्य को करते हैं, प्रत्येक परमाणु में स्पर्श - रङ्ग आदि अनन्त गुण; स्पर्श की चिकनी आदि अवस्थाएँ; रङ्ग की काली आदि अवस्थाएँ उन-उन अवस्थाओं का कर्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था, वह काली अवस्था की कर्ता नहीं है।

इस प्रकार आत्मा में - प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान में केवलज्ञान पर्यायरूप कार्य हुआ, आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है। मनुष्यशरीर अथवा स्वस्थ शरीर के कारण वह कार्य हुआ - ऐसा नहीं है। पूर्व की मोक्षमार्ग पर्याय के आधार से वह कार्य हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान और आनन्द के परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं, द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्य का कर्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही अपने केवलज्ञानादि कार्य का कर्ता है; अन्य कोई नहीं। यह तीसरा बोल हुआ।

(४) वस्तु की स्थिति सदा एकरूप (कूटस्थ) नहीं रहती।

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होती रहती है। पर्याय बदले बिना ज्यों का त्यों कूटस्थ ही रहे - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; इसलिए उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्याय से परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूप से पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे - ऐसा नहीं है।

नयी-नयी पर्यायरूप होना, वह वस्तु का अपना स्वभाव है तो कोई उसका क्या

करेगा ? इन संयोगों से कारण यह पर्याय हुई – इस प्रकार संयोग के कारण जो पर्याय मानता है, उसने वस्तु के परिणमनस्वभाव को नहीं जाना है, दो द्रव्यों को एक माना है। भाई! तू संयोगों से न देख, वस्तुत्वभाव को देख! वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि वह नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूप से एकरूप रहे, परन्तु पर्यायरूप से एकरूप न रहे, पलटता ही रहे – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

इन चार बोलों से ऐसा समझाया है कि वस्तु ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तक का पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया – वह हाथ लगने से पलटा हो – ऐसा नहीं है परन्तु उन पृष्ठों के रजकणों में ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति नहीं रहता, उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलिए वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप हुए हैं, दूसरे के कारण नहीं। वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती ही रहती है; वहाँ संयोग के कारण वह भिन्न अवस्था हुई – ऐसा अज्ञानी का भ्रम है क्योंकि वह संयोग को ही देखता है परन्तु वस्तुस्वभाव को नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिए वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती – ऐसे स्वभाव को जाने तो किसी संयोग से अपने में या अपने से पर में परिवर्तन होने की बुद्धि छूट जाए और स्वद्रव्य की ओर देखना रहे; इसलिए मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठण्डा था और चूल्हे पर आने के बाद गर्म हुआ; वहाँ उन रजकणों का ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलिए वे अपने स्वभाव से ही ठण्डी अवस्था को छोड़कर, गर्म अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। इस प्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी, संयोग को देखता है कि अग्नि के आने से पानी गर्म हुआ। एक समय में तीन काल तीन लोक को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थङ्करदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ यह तत्त्व है और सन्तों ने इसे प्रगट किया है। आचार्यदेव ने चार बोलों से स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे समझ ले तो कहीं भ्रम न रहे।

बर्फ के संयोग से पानी ठण्डा हुआ और अग्नि के संयोग से गर्म हुआ – ऐसा अज्ञानी देखता है परन्तु पानी के रजकणों में ही ठण्डा-गर्म अवस्थारूप परिणमित होने का

स्वभाव है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई! वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है कि अवस्था की स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं है परन्तु बहते हुए पानी की भाँति द्रवित होती है – पर्याय को प्रवाहित करती है, उस पर्याय का प्रवाह वस्तु में से आता है; संयोग में से नहीं आता। भिन्न प्रकार के संयोग के कारण अवस्था की भिन्नता हुई अथवा संयोग बदले, इसलिए अवस्था बदल गयी – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तु का स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

१. परिणाम ही कर्म है।
२. परिणामी वस्तु के ही परिणाम हैं; अन्य के नहीं।
३. वह परिणामरूपी कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता।
४. वस्तु की स्थिति एकरूप नहीं रहती।

इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है – यह सिद्धान्त है।

इन चारों बोलों में तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करने से भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टि से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्न – संयोग के आने पर तदनुसार अवस्था बदलती दिखाई देती है न?

उत्तर – यह सत्य नहीं है, वस्तुस्वभाव को देखने से ऐसा दिखायी नहीं देता; अवस्था बदलने का स्वभाव वस्तु का अपना है – ऐसा दिखायी देता है। कर्म का मन्द उदय हो, इसलिए मन्दराग और तीव्र उदय हो, इसलिए तीव्रराग – ऐसा नहीं है। अवस्था एकरूप नहीं रहती, परन्तु अपनी योग्यता से मन्द-तीव्ररूप से बदलती है – ऐसा स्वभाव वस्तु का अपना है, वह कहीं पर के कारण नहीं है।

भगवान के निकट जाकर पूजा करे या शास्त्रश्रवण करे, उस समय अलग परिणाम होते हैं और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं, तो क्या संयोग के कारण वे परिणाम बदले? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते रहें – ऐसा ही उसका स्वभाव है; उन परिणामों का बदलना वस्तु के आश्रय से ही होता है; संयोग के आश्रय से नहीं। इस प्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इन चार बोलों के सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप को समझे तो मिथ्यात्व की जड़ें उखड़ जाएँ और पराश्रितबुद्धि छूट जाए। ऐसे स्वभाव की प्रतीति होने से अखण्ड स्व-वस्तु पर लक्ष्य जाता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उस सम्यग्ज्ञानपरिणाम का कर्ता आत्मा स्वयं है। पहले अज्ञानपरिणाम भी वस्तु के ही आश्रय से थे और अब ज्ञानपरिणाम हुए, वे भी वस्तु के ही आश्रय से हैं।

मेरी पर्याय का कर्ता, दूसरा कोई नहीं है; मेरा द्रव्य परिणमित होकर मेरी पर्याय का कर्ता होता है - ऐसा निश्चय करने से स्वद्रव्य पर लक्ष्य जाता है और भेदज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल में चारित्रदोष से कुछ रागादि परिणाम रहे, वे भी अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा का परिणमन होने से आत्मा का कार्य है - ऐसा धर्मीजीव जानता है; उसे जानने की अपेक्षा से व्यवहार को उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहते हैं।

धर्मी को द्रव्य का शुद्धस्वभाव लक्ष्य में आ गया है; इसलिए सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है, उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो स्वभाव की हो गयी है। पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि परिणाम थे, वे भी स्वद्रव्य के अशुद्धउपादान के आश्रय से ही थे परन्तु जब निश्चित किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्य के ही आश्रय से होते हैं, तब उस जीव को मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते; उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं।

अब, जो रागपरिणमन, साधकपर्याय में शेष रहा, उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है, तथापि वह परिणमन अपना है - ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहार का ज्ञान, उस काल का प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है, तब निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्याय का स्वरूप ज्ञात होता है; तब कर्ता-कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्य के लक्ष्य से मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्ता, आत्मा स्वयं है।

इस प्रकार इस २११वें कलश में आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूप से अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है, उसका विवेचन पूर्ण हुआ।